# विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

स्वामी विवेकानन्द (अमेरिका में—सितम्बर १८९३)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

## विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष २
अंक ३

" मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा। टा। ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई - सितम्बर १९६४

प्रधान सम्पादक

स्वामी आत्मानन्द,

सह-सम्पादक

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर ( मध्य प्रदेश )

फोन नम्बर. १०४९

# अनुक्रमणिका

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २ ] जुलाई—१९६४—सितम्बर [ अंक ३

वार्षिक चन्दा ४) -*- एक प्रति का १)

## सुखी कौन ?

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिः
या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगः
तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

—यह तृष्णा एक प्राणान्तक रोग है। मनुष्य भले जीर्ण हो जाय, पर वह जीर्ण नहीं होती। दुर्मतियों के लिए इसका त्याग बड़ा कठिन है। किन्तु सुखी तो वही है जो इस तृष्णा का त्याग करता है।

—महाभारत, आदिपर्व ८५।१८

# सिर्फ एक कौपीन के वास्ते

एक साधू था। उसने गुरु से दीक्षा ली और उनके निर्देशानुसार जन-कोलाहल से दूर किसी विजन वन में छोटी सी कुटी बना ली। वह इस कुटी में रहकर साधन-भजन करने लगा। सुबह स्नान करने के बाद वह अपना गीला कपड़ा और कौपीन वहीं निकट के वृक्ष पर सूखने के लिए डाल देता। एक दिन नित्यानुसार जब वह समीप के ग्राम से भिक्षा लेकर लौटा, तो बड़े दुःख के साथ उसने देखा कि चूहों ने उसके कौपीन में कई छेद कर दिये हैं। अतः दूसरे दिन वह गाँव से एक नया कौपीन माँग लाया। कुछ दिन बाद उसने अपना कौपीन कुटी पर सूखने डाल दिया और रोज की तरह भिक्षा माँगने गाँव की ओर निकल गया। लौटकर देखा कि चूहों ने उसके कौपीन के चिथड़े चिथड़े कर दिये हैं। उसे बड़ा क्रोध आया। सोचने लगा, "फिर से कौपीन का कपड़ा माँगने अब कहाँ जाऊँ ? किससे माँगूँ ?" दूसरे दिन जब वह भिक्षा के लिए गाँव गया, तो लोगों को अपनी विपत्ति बताई। सुनकर ग्रामवासियों ने कहा, "भला कौन तुम्हें रोज रोज कौपीन देता रहेगा ? ऐसा करो, एक बिल्ली रख लो। फिर चूहे पास न फटकेंगे।"

गाँव वालों से बिल्ली का एक बच्चा लेकर साधू कुटी लौटा। उस दिन से चूहों का उत्पात बन्द हो गया। साधू के आनन्द की सीमा न रही। वह बड़े प्यार और यत्न के साथ

बिल्ली के बच्चे का पालन करने लगा। उसके लिए वह रोज गाँव से दूध माँग लाता। कुछ दिन बीतने पर एक ग्रामवासी ने उस साधू से कहा, "साधूजी, तुम्हें तो रोज दूध चाहिए। भिक्षा माँग-माँगकर कुछ दिन तक तो दूध तुम्हें मिल सकता है, पर साल भर कौन तुम्हें दूध देगा? ऐसा करो–एक गाय रख लो। तुम भी दूध पी सकोगे और बिल्ली को भी पिला सकोगे।"

साधू को एक दुधार गाय मिल गयी। अब दूध माँगने का प्रयोजन न रहा। पर गाय के लिए खूराक तो आवश्यक थी। अतः वह गाँव वालों से रोज घास माँग लाता। कभी एक गाँव से तो कभी दूसरे से। एक दिन गाँव वालों ने कह दिया, "अजी साधूजी महाराज, तुम्हें कहाँ तक हम लोग रोज रोज घास देते रहें। ऐसा क्यों नहीं करते—तुम्हारी कुटिया के आसपास तो बड़ी भारी परती जमीन पड़ी है, उसे जोत लो और अनाज बो डालो फिर तुम्हें किसी बात की जरूरत न रहेगी। तुम्हारे लिए अनाज हो जायगा और तुम्हारी गाय के लिए चारा।"

साधू को यह सलाह पसंद आ गयी और उसने उस जमीन पर खेती शुरू कर दी। धीरे धीरे कारबार बढ़ने लगा। अधिक नौकरों की जरूरत पड़ी। अनाज रखने के लिए कोठे बनने लगे। इस प्रकार कुछ समय में वह एक खासा पटेल ही बन गया। अन्त में, अपने विशाल कारबार की देखभाल करने के लिए उसे पत्नी की भी जरूरत पड़ गयी। उसके दिन एक व्यस्त गृहस्थ की तरह बीतने लगे।

कुछ समय बाद, उसके गुरु उसे देखने आये। अपने चारों ओर अनाज के कोठे और तरह तरह की चल-सम्पत्ति देखकर वे अचरज में पड़ गये। उन्होंने एक नौकर से पूछा, "यहीं एक कुटी में कोई साधू रहा करता था, बता सकते हो वह आजकल कहाँ है?" नौकर को कोई उत्तर न सूझा। अतः गुरु घर के भीतर गये। वहाँ शिष्य से भेंट हो गयी। अति आश्चर्य में पड़कर गुरु ने पूछा, "यह सब क्या है?" शिष्य लज्जा से गड़ गया और गुरु के चरणों पर गिर कर बोला, "भगवन्! यह सब सिर्फ एक कौपीन के वास्ते हुआ!"—

जिसने अपने ऊपर विजय पा ली हो, सचमुच ही वह उस विजेता से भी महान् है जिसने सहस्रों शत्रुओं को परास्त कर दिया हो।

—भगवान बुद्ध

क्या अन्धा, अन्धे को रास्ता बता सकता है। क्या वे दोनों ही गड्ढे में नहीं गिर पड़ेंगे।

—प्रभु ईसा

संसार के समस्त धन द्वारा भी कोई संतोष नहीं खरीद सकता।

—गुरु नानक

# आध्यात्मिक जीवन की बाधाओं को दूर करने के उपाय

श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज,
उपाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ व मिशन ।

बाधाएँ किसे कहते हैं? आध्यात्मिक जीवन में हम 'बाधा' शब्द का प्रयोग अपनी आध्यात्मिक प्रगति की राह में रोड़ा बननेवाले भीतरी और बाहरी दोनों संसारके लिए करते हैं, साथ ही उन भौतिक और सूक्ष्म विषयों तथा उन अवस्थाओं और परिवेशों को भी हम 'बाधा' के अन्तर्गत मानते हैं, जो आध्यात्मिकता के क्षेत्र में हमें आगे बढ़ने नहीं देते ।

साधारणतया, कई प्रकार की बाधाएँ हैं जो तरह-तरह के दुःखों को पैदा करती हैं । सांख्य-सूत्र में भगवान् कपिल तीन प्रकार के दुःखों का उल्लेख करते हैं:—( १ ) आध्यात्मिक दुःख—वह जो हमारे भीतर ही पैदा होता है; शरीर में अस्वास्थ्यकर आदतों और रोग-राई से, तथा मन में काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर आदि से । ( २ ) आधिभौतिक दुःख—वह जो अन्य जीवित प्राणियों के कारण होता है; जैसे पशुओं, चोर-डाकुओं और दुर्जनों के कारण । ( ३ ) आधि-दैविक दुःख—वह जो प्राकृतिक घटनाओं के कारण होता है; जैसे तापमान की अधिकता या न्यूनता, बाढ़ और तूफ़ान,

भूकम्प और महामारी आदि । ये सब के सब आध्यात्मिक जीवन में बाधक सिद्ध हो सकते हैं; और जब हम भीतर से चंगे नहीं होते, तो ये बाहरी दुःख हमें और भी प्रभावित करते हैं।

हम पूर्व जन्मों के सूक्ष्म संस्कारों और प्रवृत्तियों के साथ जन्म लेते हैं तथा प्रस्तुत जीवन में हमें नये संस्कार और प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। शुभ प्रवृत्तियाँ हमारी सहायता करती हैं। पर अशुभ प्रवृत्तियाँ हमारी आध्यात्मिक प्रगति को रोक देती हैं।

बाधाओं के कई प्रकार हैं। आध्यात्मिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में हमें अलग अलग बाधाओं का सामना करना पड़ता है। आध्यात्मिक जीवन एक प्रवाह के समान है। उसे सच्चिदानन्द-सागर की ओर बहना चाहिए। इस सच्चिदानन्द-सागर को चाहे परमेश्वर कह लो या ब्रह्म, भगवान् कह लो या अल्लाह या ताओ — इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। कभी कभी आध्यात्मिक प्रवाह बहता ही नहीं; कभी कभी थोड़ी देर बहकर रुक जाता है; और कभी तो वह गलत दिशा में बहने लगता है। आध्यात्मिक जीवन में प्रयत्न इस बात का करना पड़ता है कि यह आध्यात्मिक प्रवाह बहे, ठीक दिशा में बहे और लक्ष्य की प्राप्ति तक निरन्तर बहता रहे।

बाधाएँ अनिवार्य हैं पर दूर की जा सकती हैं। यही आदर्श है। पर वास्तविक जीवन में कोई ऐसी गति नहीं है जो सरल रेखा में हो। गति में उतार और चढ़ाव, रुकावट

या अन्तराय होते ही रहते हैं। जब तक हम भगवान् की कृपा को नहीं पहचान पाते और आत्मानुभूति प्राप्त कर शान्ति और कृतकृत्यता के अधिकारी नहीं बन जाते, तब तक बाधाएँ सामने आती ही रहती हैं। पर उस अवस्था तक पहुँचने के पहले हमें अध्यवसाय के साथ अपनी आध्यात्मिक साधनाओं में लगे रहना पड़ता है। वर्तमान अवस्था में बाधाएँ चाहे जितनी ही दुर्जय क्यों न दिखें, पर हमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए, अपनी साधनाओं को बन्द नहीं करना चाहिए। बहुत से साधकों की यह अनुभव-सिद्ध बात है।

एक समय स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने अपने एक युवक शिष्य से उसकी आध्यात्मिक उन्नति के सम्बन्ध में पूछा। उसने उत्तर दिया, "महाराज, उतनी सन्तोषजनक नहीं है। मेरा मन अशान्त है। आध्यात्मिक साधना के लिए मन में अब तक कोई रुचि नहीं आ पाई है। ऐसा लगता है कि मेरे भीतर कोई बाधा है। मैं बड़ा दुःखित हूँ। प्रतीत होता है कि अशुभ संस्कार लेकर मैंने जन्म लिया है और वे मेरी आध्यात्मिक प्रगति में रोड़ा बनकर खड़े हो जाते हैं।" इस पर स्वामीजी ने कहा, "देखो बच्चा! इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। मध्यरात्रि में जप का अभ्यास करो। यदि वह सम्भव न हो, तो ब्राह्ममुहूर्त में करो।··· अपना बहुमूल्य समय अब नष्ट न करो। ध्यान और प्रार्थना में अपने आपको डुबा लो, अन्यथा आध्यात्मिक सत्य का दरवाजा कैसे खुल सकेगा?··· साधक को चाहिए कि वह पहले किसी पहुँचे हुए महात्मा से आध्यात्मिक मार्ग की शिक्षा ग्रहण करे

और तदन्तर विधिपूर्वक उसका पालन करे। यदि वह अव्यवस्थित रूप से साधना करेगा, तो उससे विशेष लाभ न होगा; और यदि एकदम छोड़ देगा, तो फिर से शुरू करना दुगुना कठिन हो जायगा। पर एक बात है, कोई भी प्रयत्न नष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति आध्यात्मिक साधनाओं का नियमित अभ्यास करता है, उससे काम, क्रोध, लोभ धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं।"

जब उस युवक ने कहा, "मेरा मन अशान्त है," तो उसका तात्पर्य साधारण चंचलता या अशान्ति से नहीं था। आध्यात्मिक जीवन में कुछ उल्लेखनीय प्रगति करके उसे ऐसा लगा कि भीतर की बाधाएँ अब रास्ते में आकर खड़ी हो गयी हैं और उसकी प्रगति में रुकावट डाल रही हैं। यहाँ पर मुझसे यह पूछा जा सकता है कि आपने उस युवक के मन की बात कैसे जानी? तो उत्तर यह है कि वह युवक मैं ही था।

जब संसारी मनुष्य दुनियाँ के भोगों के पीछे दौड़ता है, तो वहाँ एक प्रकार की चंचलता है, अशान्ति है; और जब साधक आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रयत्नवान् होता है, जब वह मन की निम्नावस्था से उच्चतर अवस्था की ओर जाना चाहता है, तो वहाँ दूसरे प्रकार का चांचल्य है, अशान्ति है।

आध्यात्मिक जीवन की गति दो दिशाओं में होती है—एक को हम खड़ी कह सकते हैं और दूसरी को आड़ी। हमें अधिकाधिक ऊपर भी उठना पड़ता है और साथ ही अपने

भावों का विस्तार भी करना पड़ता है।

हममें कई ऐसे हैं जो उच्चतर अवस्था में उठने की बात को कोई महत्व नहीं देते। हम मूर्ख की तरह सोचते हैं कि जहाँ हम हैं वहां ठीक है। हम प्लेटो द्वारा वर्णित गुफा में रहने वाले उन मनुष्यों के समान हैं, जिन्होंने परछाइयों को ही यथार्थ समझा और जो अपने अन्धकार से भरे जीवन से ही सन्तुष्ट रहे। हम भी अपने तहखाने में बँधे जीवन से सन्तुष्ट हैं।

पर हममें कुछ ऐसे भी हैं जो प्रकाश में आना चाहते हैं और आध्यात्मिक प्रवाह की सहायता से उन्नतर भूमिका पर उठना चाहते हैं। इस आध्यात्मिक प्रवाह की उपमा किसी लिफ्ट या उत्थापन-यंत्र से दी जा सकती है जो लोगों को एक मंजिल से दूसरी पर उठा ले जाता है। यदि आध्यात्मिक प्रवाह को उचित रीति से उठा दिया जाय तो वह हमें एक चक्र से दूसरे चक्र में ले जाता है। कभी ऐसा होता है कि हम लिफ्ट में चढ़ना तो चाहते हैं पर दरवाजा नहीं खुलता; यह एक बाधा है। दरवाजा खुल जाता है और हम लिफ्ट पर चढ़ जाते हैं पर लिफ्ट चलता नहीं — यह दूसरे प्रकार की बाधा है। तीसरी बाधा वह है जब हम ऊपर तो उठते हैं पर दरवाजा नहीं खुलता। चौथी बाधा वह है जब दरवाजा खुलता है हम उस मंजिल पर बाहर आ जाते हैं, कुछ समय तक इधर उधर घूमते रहते हैं, पर जब हम फिर से उससे भी ऊंची मंजिल पर जाना चाहते हैं तो लिफ्ट तक वापस आने का रास्ता हम खोज नहीं पाते। जब मैंने अपनी

आध्यात्मिक प्रगति की राह में खड़ी हो जानेवाली कुछ बाधाओं के सम्बन्ध में स्वामी ब्रह्मानन्दजी से कहा था, उस समय उसी तरह का कुछ मुझे हुआ था।

पर इन बाधाओं को दूर किया जा सकता है। हम आध्यात्मिक साधनाएँ करके अपने अन्तर्चक्षुओं को खोल सकते हैं और 'गुप्त सीढ़ियों' को खोजकर अधिकाधिक ऊँचे चढ़ सकते हैं।

बाधाओं और सहायता का सह-अस्तित्व। इससे हम यह न सोच बैठें कि जीवन केवल बाधाओं से भरा है। यदि हमारे सामने बहुत सी विघ्न-बाधाएँ आती हैं, तो हमें अपने भीतर और बाहर सहायता भी भारी मात्रा में मिलती है। यह अनिवार्य है कि हमें अपने परिवेशों और अपनी अवस्था का यथार्थ ज्ञान और सन्तुलित मूल्यांकन कर लेना चाहिए।

अपनी कमजोरियों के सम्बन्ध में सोच-सोचकर हमें अपने आपको कमजोर नहीं बना लेना चाहिए। यदि हममें दुष्प्रवृत्तियाँ हैं, तो शुभ प्रवृत्तियाँ भी हैं— यही नहीं, शुभ की संख्या अशुभ से कहीं अधिक है। यदि हममें काम, क्रोध, लोभ और अहंकार जैसे आध्यात्मिक जीवन के शत्रु हैं, तो निःस्वार्थता, आत्मसंयम, दानशीलता तथा दया जैसे मित्र भी हैं।

"हम आत्मा हैं" इस महान् सत्य पर चिन्तन-मनन करना हमारे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के लिए बड़ा सहायक है। जैसे सागर की लहर सागर के नित्य संस्पर्श में

रहती है और उस पर आधारित रहती है, अथवा जैसे अलोक-किरण अनन्त प्रकाश के संस्पर्श में रहती है, वैसे ही हम भी परमात्मा के नित्य संस्पर्श में रहनेवाले आत्मा हैं।

एक बात और। हमें इन तथा कथित, उद्भ्रान्त धर्मवेत्ताओं से सावधान रहना चाहिए जो केवल सर्वत्र पाप ही पाप देखते हैं, जो मनुष्य को हरदम पाप का पुतला ही समझते हैं। एक नये पादरी की कहानी है जो केवल पाप ही पाप पर बोलता गया। श्रोताओं में से किसी ने उसे बधाई देते हुए कहा, "तुम्हारे आने के पहले हमें पता तक न था कि पाप क्या है!" यह भी कैसी प्रशंसा है!

हमारे सभी आध्यात्मिक शिक्षक हमें बताते हैं कि हमारे जीवन में दो परस्पर विरोधी वृत्तियाँ कार्यरत हैं—एक है श्रेय की, दूसरी है प्रेय की। कठोपनिषद् में कहा है—"श्रेय अलग है और प्रेय अलग है। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों की पूर्ति करने वाली ये दोनों प्रवृत्तियाँ मनुष्य के सामने आती हैं। जो उनमें से श्रेय का चुनाव करता है उसका कल्याण होता है, पर जो प्रेय को चुनता है वह लक्ष्य को चूक जाता है। ...मनुष्य के सामने श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं। धीर पुरुष उन दोनों को अच्छी तरह परखते हैं और विचार करते हैं। वे प्रेय की अपेक्षा श्रेय को ही चुनते हैं, पर मूर्ख जन लोभ और ईर्ष्या से परिचालित हो प्रेय का चुनाव करते हैं।"

इस इन्द्रियगोचर जगत का सृजन करनेवाली मायाशक्ति के दो पहलू हैं—विद्या और अविद्या। इनकी तुलना क्रमशः केन्द्राभिमुख और केन्द्रापसारी शक्तियों से की जा सकती है।

विद्या का प्रवाह हमें ईश्वर की ओर ले जाता है; उसकी अभिव्यक्ति विवेक, अनासक्ति, श्रद्धा और ईश्वर-प्रेम के रूप में होती है। अविद्या हमें संसार की ओर खींचती है तथा वित्तैषणा, सांसारिकमहत्वाकांक्षा, सकाम कर्म और निर्दयता आदि विकारों के रूप में प्रकट होती है। अविद्या बुद्धि पर पर्दा डालकर आत्मा को बाँध देती है। विद्या मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार और मुक्ति में सहायता प्रदान करती है। अतः उचित है कि हम विद्या का-श्रेय का मार्ग चुनें और तन एवं मन की शुद्धता प्राप्त करें। आध्यात्मिक उन्नति के लिए यह शुद्धता अनिवार्य है। वह हमें ब्रह्माण्ड की आध्यात्मिक शक्तियों के संस्पर्श में लाती है, जिसे भक्त ईश्वर की कृपा कहता है।

आध्यात्मिक अनुभूति की शर्तें :— इस बात की सुस्पष्ट धारणा कर लेना आवश्यक है कि आध्यात्मिक अनुभूति क्या है और उसका ब्रह्माण्डीय अस्तित्व और ब्रह्माण्ड शक्तियों के साथ क्या सम्बन्ध है। हम इसके रहस्य को एक बीज के उदाहरण के द्वारा समझने का प्रयत्न करेंगे।

यदि उचित भूमि में बीज बोया गया और उसे प्रकृति के यानी पृथ्वी, पानी, ताप, हवा और आकाश के संस्पर्श में रखा गया तो वह एक पौधा बन जाता है और कालान्तर में विशालकाय वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसके लिए आवश्यक है कि बीज को प्रकृति के निकट सम्पर्क में रखा जाय और साथ ही उसकी भीतरी अवस्था भी उचित

रहे, क्योंकि तभी वह पृथ्वी, जल आदि तत्वों से लाभ उठा सकता है।

सूक्ष्म का उचित विकास तब होता है जब वह स्थूल के स्वर में बँधा होता है। यह बात आध्यात्मिक जीवन के लिए भी लागू होती है। व्यक्ति को समष्टि के स्वर में बँध जाना चाहिए।

यदि हम अपने भीतर देखें, तो पता चलेगा कि हमारा शरीर जड़समुद्र का एक अंश है और उसमें से ब्रह्माण्ड शक्ति प्रवाहित हो रही है तथा उसका पोषण कर रही है। हमारा व्यष्टि मन उस समष्टि मन का एक अंश है और हमारी व्यष्टि आत्मा उस समष्टि आत्मा का। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भौतिक नियमों का पालन आवश्यक है। जब शरीर स्वस्थ रहता है तो वह ब्रह्माण्ड शक्तियों के संस्पर्श में रहता है और ये शक्तियाँ पुनः अपनी ओर से शरीर को स्वस्थ बने रहने में सहायता देती हैं। मन को स्वस्थ रखने के लिए हमें नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए। ये नैतिक नियम समन्वय और पवित्रता के प्रतीक हैं। इनका पालन करने से मन समष्टि मन के सम्पर्क में रहता है और इसलिए स्वस्थ रहता है। इसी भाँति, हमारी आत्मा को भी स्वस्थ होना चाहिए, शुद्धता और एकता की अवस्था में होना चाहिए, जिससे वह समष्टि आध्यात्मिक शक्तियों के सीधे सम्पर्क में रह सके। केवल तभी समष्टि इच्छाशक्ति अथवा भगवत्कृपा का प्रवाह आत्मा में से बहता है और उसकी प्रगति को सुनिश्चित करता है।

उचित भोजन, ब्रह्माण्ड शक्तियों के प्रवाह को नियमित करने के लिए प्राणायाम के सही अभ्यास, नैतिक जीवन और आध्यात्मिक साधना से शरीर, मन और अहंकार की बाधाएँ दूर होती हैं तथा हम समष्टि इच्छाशक्ति के स्वर में बँध कर भगवत्कृपा के अधिकारी बन जाते हैं।

भगवत्कृपा हमारे जीवन में सर्वप्रथम मुमुक्षा और आध्यात्मिक विकलता के रूप में आती है। ज्यों-ज्यों हम शुद्ध बनते जाते हैं त्यों त्यों उस ब्रह्मांडीय आध्यात्मिक प्रवाह के साक्षात् संपर्क में आते जाते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में विशेष परिश्रम करना पड़ता है; उस परिश्रम में अहंकार की भावना नहीं रहनी चाहिए। हमारी सारी साधना में ईश्वर के प्रति प्रार्थना, उत्सर्ग और शरणागति का भाव भरा रहना चाहिए। हमारे दृष्टिकोण, हमारी आदतों और हमारे सोचने के तरीकों में एक क्रांति लानी चाहिए। यदि आध्यात्मिक जीवन का निर्वाह उचित रूप से किया जाय तो वह अवश्य क्षुद्र अहं के घेरे से हमें बाहर निकाल कर विराट अहं की ओर ले जायेगा।

<u>भगवत्कृपा और पुरुषार्थ का संबन्ध</u> :— भगवत्कृपा और पुरुषार्थ एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना हम दूसरे को नहीं पा सकते। बिना घोर और अनवरत परिश्रम किये हम कभी भी भगवत्कृपा का अनुभव नहीं कर सकते। यदि हम केवल प्रार्थना करें और परिश्रम न करें तो उससे कोई फल नहीं होगा। वह तो उस मनुष्य के समान हो जायेगा जिसके

घर में आग लगी थी और वह वहाँ उपलब्ध साधनों से आग बुझाने की बजाय वर्षा के लिए प्रार्थना कर रहा था। उचित तो यह है कि हम यथाशक्ति पुरुषार्थ प्रकट करें और साथ ही प्रार्थना भी करें।

एक छोटी लड़की का भाई पक्षियों को फाँसने के लिये जाल फैलाया करता था। इस कार्य को गलत और निष्ठुर समझकर वह बहुत उदास हो जाती और रोने लगती। कुछ समय बाद उसकी माता ने उसे प्रफुल्ल और सुखी देखा। वह यह जानने के लिए उत्सुक हो गई कि आखिर ऐसा परिवर्तन उसकी लड़की में कहाँ से आ गया। लड़की ने बताया, "पहले मैं प्रार्थना करती थी कि मेरा भाई एक अच्छा लड़का बन जाय, फिर मैं प्रार्थना करने लगी कि जाल में कोई पक्षी मत फँसे और बाद में···," उसने विजय-गर्व के साथ कहा, "मैंने जाकर उस जाल को तोड़ फोड दिया।" अतः अपनी पुरानी विपरीत आदतों को तोड़ने और नई अच्छी आदतें बनाने के लिए प्रार्थना के साथ पुरुषार्थ का योग करना चाहिए।

तथा कथित धार्मिक जन अपने संकीर्ण विचारों के तंग दायरे में बँध जाते हैं और भगवत्कृपा पर एक रहस्य ही खड़ा कर देते हैं। उनका कहना है कि भगवत्कृपा तभी मिलती है जब उनके अपने पोषित सिद्धान्तों और मतों के अनुसार चला जाय। पर जो विवेकी और प्रबुद्ध जन हैं वे दूसरी ही बात कहते हैं।

ईसामहीस का सबसे बड़ा आशीर्वचन यह है—"पवित्र हृदय व्यक्ति धन्य हैं क्योंकि वे ईश्वर को देखेंगे।" भारत के

संतों की प्राचीन शिक्षा भी यही है कि, "वह स्वयंज्योति और पवित्र आत्मा जिसको शुद्धचित्त, निष्पाप और निर्दोष जनों ने शरीर में अवस्थित अनुभव किया है, सत्य, एकाग्रमन, यथार्थ ज्ञान और पूर्ण शुचिता से ही प्राप्त हो सकती है।"

वह परम सत्य या ईश्वर सूर्य के समान है। वह शुद्ध चित्त में अपने आपको प्रतिबिंबित करता है।

यहाँ पर मैं आध्यात्मिक साधना और भगवत्कृपा का संबन्ध स्पष्ट करने के लिए एक बड़ी शिक्षाप्रद वार्ता उद्धृत करूँगा जो एक भक्त और श्रीमाँ सारदा देवी के बीच हुई थी।

भक्त—"अच्छा माँ, ईश्वर की अनुभूति कैसे की जाती है ? क्या उपासना, जप और ध्यान कुछ सहायता करते हैं।"

श्रीमाँ—"नहीं, इनमें से कोई भी सहायता नहीं कर सकता।"

भक्त—"तो फिर ईश्वर का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाता है ?"

श्रीमाँ—"वह तो उनकी कृपा से होता है। पर साधक को जप और ध्यान का अभ्यास करना ही चाहिए। उससे मन का मैल दूर होता है। उपासना आदि यम-नियमों का अभ्यास करना ही चाहिए। जैसे फूल को छूने पर उसकी सुगन्ध मिलती है या जैसे चंदन की महक घिसने से प्रकट होती है, उसी कार सतत ईश्वर-चिन्तन करने से आध्यात्मिक जागरण होता है पर एक बात है, तुम ईश्वर को अभी और यहीं देख सकते हो यदि कामनाओं से मुक्त हो जाओ।"

सांसारिकता से मन दूषित हो गया है। आध्यात्मिक साधनाएँ दोषों को दूर करती हैं और जैसे स्वच्छ दर्पण चमकते सूर्य को पूरी तरह प्रतिबिंबित करता है, उसी प्रकार शुद्ध मन में वह परमात्मा अपने ही आप प्रकट हो जाता है।

यहाँ पर एक बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। आध्यात्मिक साधनाओं के फलस्वरूप मन की जो निर्मलता प्राप्त होती है; वह भले ही बहुत उच्च कोटि की हो सकती है पर वह पूर्णता की स्थिति नहीं है। साधक पूर्ण शुद्धता की स्थिति में आत्म-साक्षात्कार के बाद ही अवस्थित होता है; तब प्रलोभन के विषय थोथे पड़ जाते हैं और वह परम सत्य ही अपनी महिमा में विराजता है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽपि अस्य परम् दृष्ट्वा निवर्तते ॥

—अर्थात्, साधक से भोग्य विषय तो दूर रहते हैं पर उसमें उनके प्रति आसक्ति-रस बना रहता है; एक बार उस परम सत्य की अनुभूति हो जाने पर वह आसक्ति-रस भी दूर हो जाता है।

यह समझ लेना आवश्यक है कि आध्यात्मिक साधना और भगवत्कृपा में क्या सम्बन्ध है तथा हमारे जीवन की भीतरी बाधाओं को दूर करने में वे कितने महत्वपूर्ण हैं। केवल तभी हम आध्यात्मिक साधनाओं में उत्साह रख सकते हैं अन्यथा हमारी साधना अव्यवस्थित ही रहती है।

एक समय एक शिष्य ने श्रीमाँ सारदादेवी से आध्यात्मिक साधना की उपयोगिता के सम्बन्ध में पूछा उन्होंने उत्तर दिया, "इन आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा अतीत कर्मों के संस्कार कट जाते हैं, उनसे इन्द्रियों की चंचलता कम होती है।"

भक्त—"क्या कर्म कभी कर्म को काट सकता है ?"

श्रीमाँ—"क्यों नहीं ? यदि तुम कोई शुभ कर्म करोगे तो वह तुम्हारे पहिले के अशुभ कर्म को काट देगा। जप, ध्यान और आध्यात्मिक चिन्तन के द्वारा अतीत के पाप काटे जा सकते हैं।"

यह तो अनुभव की बात है कि नैतिक और आध्यात्मिक प्रयत्नों के द्वारा मन को निर्मल बनाने में हम जितने सफल होते हैं, उतना ही हमें भगवत्कृपा का अनुभव भी होता है। स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमसे कहा करते थे—"भगवान् की कृपा प्राप्त करना आध्यात्मिक जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। उनकी कृपारूपी वायु सब समय बह रही है। बस अपना पाल तान दो।" इसका तात्पर्य यह है कि नियमित रूप से आध्यात्मिक साधनाओं के अभ्यास द्वारा मन की शुद्धता प्राप्त करके अपने आपको भगवत्कृपा के लिए— उस ब्रह्मांडीय आध्यात्मिक प्रवाह के लिए – तैयार कर लेना चाहिए।

आध्यात्मिक जीवन भगवत्कृपा की प्राप्ति की तैयारी है। हमारे सभी आध्यात्मिक उपदेशक एक स्वर से यह घोषणा करते हैं कि जीव असल में स्वभाव से शुद्ध आत्मा ही है। अज्ञान के कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाती है और

अहंकार, मन एवं इन्द्रियों के साथ अपने को एकरूप समझने लगती है और इस प्रकार अज्ञान से समुत्पन्न विषय-भोगों, शरीर और उसकी क्रियाओं के प्रति राग-द्वेष से भर जाती है। आत्मा मानों कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का चोला पहिन लेती है। ये चोले ही अपवित्र होते हैं, आत्मा नहीं। अहंकार, मन और शरीर दूषित हो सकते हैं पर आत्मा नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध और नित्य मुक्त है।

श्रीरामकृष्ण के दिये हुए एक उदाहरण से हम इस बात को और भी अच्छी तरह समझ सकेंगे। शरीर एक पात्र के समान है और मन उसमें रखे हुए जल के समान है। ब्रह्म सूर्य के समान है जिसकी परछाईं पानी में पड़ती है। जल मैला और दूषित हो सकता है पर सूर्य का प्रकाश नित्य पवित्र और जाज्वल्यमान है। कठोपनिषद् में कहा है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

—जिस प्रकार संपूर्ण लोक का नेत्र होकर भी सूर्य नेत्र संबन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार संपूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता, बल्कि उनसे बाहर रहता है।

कोई भी दोष हमारे मूल स्वरूप को प्रभावित नहीं कर सकता, वह तो नित्य शुद्ध रहता है। वह हमारा आरोपित स्वरूप है जो दूषित और अशुद्ध होता है; उसे शुद्ध किया जा सकता है और वैसा करना ही चाहिए। आध्यात्मिक जीवन

का तात्पर्य है अपने इस आरोपित स्वरूप को शुद्ध करना—अहंकार, मन और शरीर रूपी पर्दे को साफ करना। अतएव, निश्चय ही हममें से प्रत्येक के लिए आशा है। यह ठीक ही कहा है कि जैसे प्रत्येक सन्त का एक अतीत होता है उसी प्रकार प्रत्येक पापी का एक भविष्य होता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि "पापी से पापी व्यक्ति भी यदि मेरी—मुझ परम आत्मा की—अनन्य मन से भक्ति करे तो उसे साधु ही समझना चाहिए क्योंकि उसका निश्चय सही और उचित है। वह शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत शान्ति पा लेता है। अर्जुन! यह निश्चय रूप से जान लो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।" "कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य सब कुछ छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा; शोक मत कर।" जिस भक्त ने भगवान् के चरणों में अपने आपको पूरी तरह निछावर कर दिया है उसकी समस्त बाधाएँ स्वयं भगवान् दूर कर देते हैं।

भगवत्कृपा की अपूर्व शक्ति :— परमात्मा की कृपा के द्वारा एक पापी से पापी व्यक्ति भी कैसे धर्मात्मा बन जाता है और उच्चतम ज्ञान और शान्ति को पा लेता है इसका जाज्वल्य उदाहरण हमें प्रसिद्ध नाटककार तथा भगवान् श्रीरामकृष्ण के एक महान् शिष्य गिरीशचन्द्र घोष में देखने को मिलता है।

गिरीश ने स्वयं स्वीकार किया है कि ऐसा कोई पाप नहीं था जो उन्होंने न किया हो। एक समय था जब वे धर्म को

धोखा धड़ी समझते थे। बाद में उनके जीवन में एक महान् परिवर्तन आया और वे आध्यात्मिक प्रकाश और शान्ति पाने के लिए आकुल हो गये। ऐसे ही समय श्रीरामकृष्ण से उनका परिचय हुआ और गिरीश उनकी ओर खिंच गये। यद्यपि उन्हें दीर्घ साधना करनी पड़ी, तथापि धीरे धीरे उनका मन शुद्ध हो गया। एक समय उन दोनों में निम्नलिखित वार्तालाप हुआ—

गिरीश—"महाराज, मुझे आशीर्वाद दीजिए।"

श्रीरामकृष्ण—"जगन्माता पर विश्वास रखो, तुम्हें सब कुछ मिलेगा।"

गिरीश—"पर मैं तो पापी हूँ।"

श्रीरामकृष्ण—"जो नित्य पाप की बात सोचता रहता है वह पापी ही हो जाता है।"

गिरीश—"महाराज, जहाँ मैं बैठता हूँ वह जगह तक अपवित्र हो जाती है।"

श्रीरामकृष्ण—"ऐसा कैसे कह सकते हो? मान लो हजार साल के अँधेरे कमरे में प्रकाश लाया गया, तो क्या वह कमरे को धीरे धीरे प्रकाशित करेगा या एकदम से?"

गिरीश—"मुझमें निष्ठा नहीं है। कृपा करके आशीर्वाद दीजिए।"

श्रीरामकृष्ण—"ठीक है, तुममें श्रद्धा हो।"

तरुण नरेन्द्र, जो बाद में चलकर स्वामी विवेकानन्द बने, गिरीश के परम मित्र थे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें गिरीश से अधिक न मिलने की चेतावनी देते हुए कहा था, "गिरीश ऐसी कटोरी के समान है जिसमें लहसुन रखी हो। कटोरी को कोई चाहे हजार बार भी धो डाले पर लहसुन की गन्ध पूरी तरह दूर न होगी।" गिरीश ने यह बात सुनी। उनके अभिमान पर ठेस पहुँची। उन्होंने श्रीरामकृष्ण से अभियोग के स्वर में पूछा कि यह 'लहसुन-गंध' कभी दूर होगी या नहीं। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा, "जब आग तेज की जाती है तो सारी गंध दूर हो जाती है; यदि तुम कटोरी को आग में डालकर गरम कर लो तो गंध से तुम्हें मुक्ति मिल सकती है।" इतना ही नहीं, श्रीरामकृष्ण ने यह भी घोषणा की कि लोग गिरीश के जीवन में ऐसा अद्भुत परिवर्तन देखकर आश्चर्यचकित रह जायेंगे। सचमुच ही गिरीश के जीवन से कालान्तर में वह 'लहसुन-गंध, दूर हो गई, और उनका जीवन अद्भुत रूप से बदल गया।

श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार गिरीश ने दैवी इच्छा पर अपने आपको पूरी तरह से निछावर कर देने की राह अपनायी। यह ऐसा रास्ता है जिस पर से इने गिने लोग ही जा सकते हैं। गिरीश सरल से सरल आध्यात्मिक साधना करने का वचन भी नहीं देना चाहते थे, इसीलिए जब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपना वकलमा ( भार ) देने के लिए कहा और उनके आध्यात्मिक जीवन का समस्त उत्तरदायित्व

अपने ऊपर ले लिया, तो गिरीश बड़े प्रसन्न हुए। उस समय गिरीश ने सोचा कि आत्मसमर्पण का पथ सबसे सरल है, पर बाद में चल कर उन्हें अनुभव हुआ कि वह मार्ग कितना कठिन है। पग पग पर उन्हें आत्मसमर्पण का अभ्यास करना पड़ता था! इसके फल स्वरूप उन्हें नित्य ईश्वर का सान्निध्य अनुभव होने लगा और वे देव मानव बन गये। भगवान् ने उनके सारे दुर्गुण दूर कर दिये, उनके आध्यात्मिक जीवन की सारी बाधाएँ हटा दीं और उनके हृदय को अपने आनन्दमय दैवी अस्तित्व से भर-भर दिया। उनके अन्तिम दिनों में हममें से कुछ लोग उनसे मिले थे। उन्होंने बताया था, "जब हाथ हिलाता हूँ तो ऐसा अनुभव होता है कि मैं नहीं बल्कि प्रभु उसे हिला रहे हैं!" उनका मुख मंडल और उनकी आँखें ईश्वर के प्रति असीम प्रेम और भीतर के आध्यात्मिक प्रकाश से देदीप्यमान हो रही थीं। भगवत्कृपा के द्वारा जीवनधारा के बदल दिये जाने का यह एक अपूर्व दृष्टान्त है। यह कृपा साधक के जीवन में तब आती है जब वह यथाशक्ति पुरुषार्थ प्रकट करता है।

(क्रमशः)

—"वेदान्त एण्ड दि वेस्ट" से साभार।

———

# ब्रह्मवेत्ता तोतापुरी और श्रीरामकृष्णदेव

प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा

दक्षिणेश्वर में श्रीमत् स्वामी तोतापुरीजी का आगमन श्रीरामकृष्णदेव की द्वादशवर्षीय दीर्घ साधना के इतिहास की एक उल्लेखनीय घटना है। साधना के आरम्भिक वर्षों में श्रीरामकृष्णदेव के हृदय में भगवद्-विरह के अकूल पारावार की जो तरंगे उठ-गिर रही थीं, वे अब तक पूरी तरह से प्रशमित हो चुकी थीं। अपार भावमय श्रीरामकृष्णदेव के ईश्वरीय विरह का राग अब दैवी साहचर्य के शाश्वत स्वरों में बदल चुका था। मानवीय जीवन के सर्वोच्च पुरुषार्थ को प्राप्त करने के पश्चात् श्रीरामकृष्णदेव माता जगदम्बा के चरणों में सर्वात्म-भाव से समर्पित होकर उनके आगामी आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे। माता भवतारिणी ने अपने पुत्र की नियति का निर्धारण केवल यहीं तक नहीं किया था उन्हें इतना ही इष्ट नहीं था; वे तो अपने पुत्र को विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण साधना-प्रणालियों में प्रवृत्त करना चाहती थीं। माता श्रीरामकृष्णदेव के माध्यम से एक अपूर्व लीला का विधान करती हैं। श्रीरामकृष्णदेव के आलम्बनसे श्रीभगवान् ने एक बार फिर से इसी आर्ष सत्य की ज्योति को नई भास्वरता दी है कि "विश्व के विविध धर्माचार्यों ने

ईश्वर के समीप पहुँचने के लिए जितने मार्गों का प्रतिपादन किया है वे परस्पर विरोधी नहीं हैं, उच्च निम्न नहीं हैं, अपितु वे सभी पथ ईश्वर को प्राप्त करने के लिए बनाए गए हैं।" श्रीरामकृष्णदेव के द्वारा सभी धर्मों की साधना करा कर शक्तिस्वरूपिणी माता यह बता देती हैं कि धर्म के सम्बन्ध में संकुचित धारणा मनुष्य के लिए सम्भव सबसे बड़ी मूर्खता है, धर्म-कलह आधुनिक जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है तथा धर्मयुद्ध सबसे झूठी विडम्बना है।

अब श्रीभगवान् श्रीरामकृष्णदेव की आध्यात्मिक साधना को सर्वांग पूर्ण बनाने के लिए विभिन्न धर्माचार्यों को दक्षिणेश्वर की ओर आकर्षित करते हैं। किन्तु श्रीरामकृष्णदेव का पथ-प्रदर्शन करने के लिए जितने भी धर्माचार्य आते हैं उनके जीवन का अनुशीलन करने पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वे सब श्रीरामकृष्णदेव के पुण्य-साहचर्य से कृतकृत्य हुए हैं और उनका जीवन आध्यात्मिक साधना के पथ पर पूर्वापेक्षा अधिक वेग से अग्रसर हुआ है। श्रीरामकृष्णदेव को तँत्र-साधना में प्रविष्ट कराने के लिए दक्षिणेश्वर में सर्व-प्रथम भैरवी ब्राह्मणी का आगमन होता है। उनके ममत्वपूर्ण निर्देशन में वे सहज प्रयास में ही तँत्र की सभी प्रणालियों में सिद्धि-अर्जन कर लेते हैं। इसके साथ ही वैष्णव सम्प्रदाय की सर्वप्रमुख साधना मधुर-भाव में पूर्णकाम होकर वे उसपर अपने अनुभव की प्रामाणिकता की मुहर लगा देते हैं। दूसरी ओर भैरवी ब्राह्मणी भी श्रीरामकृष्णदेव के साहचर्य में वह आलोक प्राप्त करती हैं जो उनके अज्ञानांधकार को नष्ट कर

देता है। इसीप्रकार श्रीरामकृष्णदेव के पवित्र सान्निध्य में ब्रह्मर्षि तोतापुरीजी के जीवन की एकांगिता जाती रहती है और उनका जीवन पहले की अपेक्षा अधिक संतुलित एवं पूर्ण हो जाता है।

श्रीमत् स्वामी तोतापुरीजी ने श्रीरामकृष्णदेव को अद्वैत वेदान्त की साधना में प्रवृत्त किया था। उनका पूर्व नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है। वे सदैव बालक के समान दिगम्बर रहा करते थे। इसलिए श्रीरामकृष्णदेव उन्हें 'न्यांगटा' कहा करते थे। सुदीर्घ तपस्या के द्वारा वे निर्विकल्प समाधि में आरूढ़ हो चुके थे। फलतः उनका मन मायाराज्य की परिधि से ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार की दिव्य अनुभूति में सदा लीन रहा करता था। यही कारण था कि वे बहिर्जगत् की ओर से पूर्णतः उदासीन हो गए थे। ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित होने के कारण वे सांसारिक शौचादि के नियमों का अतिक्रमण कर पिशाचवत्, आचरण भी किया करते थे। बाइबिल में प्रभु कहते हैं कि जो यह जान लेता है कि यह जगत् मिथ्या है वह उसके प्रति अज्ञानियों का सा आचरण करता है। किन्तु यह अज्ञान मूढ़ताजन्य न होकर मीमांसा प्रसूत हुआ करता है। ऐसे ज्ञानगर्भ अज्ञान को धारण करने पर तर्क-वितर्क का अंत हो जाता है और धर्म-चर्या का प्रारम्भ होता है। *संसार का धार्मिक इतिहास इस तत्त्व की पुष्टि करता है कि जिन्होंने चरमतत्त्व को जान लिया है उन्हें

* "A learned ignorance is the end of philosophy and the beginning of religicn."

आचारमूलक नियम कभी भी बाँध नहीं सकते और वे संसार एवं जागतिक व्यापारों से सर्वथा उदासीन हो जाते हैं। तोतापुरीजी इन्हीं ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की गौरवमयी परम्परा के जगमगाते नक्षत्र थे।

तोतापुरीजी नागा-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। पंजाब के लुधियाना जिले में नागा साधुओं का एक बहुत बड़ा मठ है। इस सम्प्रदाय की साधना प्रणाली बड़ी ही वैज्ञानिक थी। जो भी नए साधक साधना के लिए दीक्षित होते थे उन्हें धीरे-धीरे तपस्या एवं तितिक्षा का अभ्यास कराया जाता था। पहले-पहल उन्हें मुलायम गद्दों में बिठाकर ध्यान लगाने की शिक्षा दी जाती थी। तदनन्तर क्रमशः दरी चटाई इत्यादि में बैठकर ध्यान करने का अभ्यास किया जाता था। अंत में साधक भूमि में ही बैठकर ध्यान लगाने का अभ्यास करता था। इस प्रकार जब साधक का मन ध्यान में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो जाता था तब उसे अल्प प्रयास से ही आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त होने लगती थीं। तोतापुरीजी शैशवावस्था से ही नागाओं के मठ में रहने लगे थे। इसकी भी एक कहानी है।

तोतापुरीजी के गुरु आसपास के क्षेत्रों में बड़े सिद्ध पुरुष माने जाते थे। आज भी उनकी स्मृति में वहाँ बड़ा भारी मेला लगता है और दूर दूर से लोग आकर वहाँ चढ़ावा आदि समर्पित करते हैं। वे तम्बाकू पिया करते थे इसलिए लोग वहाँ तम्बाकू भी चढ़ाया करते हैं। तोतापुरीजी के पूर्वजों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान उपलब्ध नहीं होता।

पूर्वजों की बात तो दूर रही स्वयं तोतापुरीजी का पूर्वनाम क्या था यह भी अविज्ञात है। सम्भवतः श्रीरामकृष्णदेव भी उनका नाम नहीं जानते थे। इसका कारण यह है कि लोक और शास्त्र दोनों ही संन्यासी का पूर्व नाम या गोत्र इत्यादि पूछना और बताना निषिद्ध करते हैं। किन्तु यह अवश्य ज्ञात है कि तोतापुरीजी के पूर्वज लुधियाना जिले के निवासी थे। उस क्षेत्र में ऐसी प्रथा है कि संतानहीन माता-पिता मठ में जाकर संतान-प्राप्ति की मनौती माना करते थे तथा प्रथम पुत्र को मठ में प्रदान करने का संकल्प किया करते थे। तोतापुरीजी के मातापिता भी संतानहीन थे और उन्होंने मठ में जाकर इसप्रकार का संकल्प किया था। फलतः तोतापुरीजी के जन्म के पश्चात् ही उनके माता-पिता ने पूर्व संकल्प के अनुसार उन्हें मठ में समर्पित कर दिया था।

कहा जाता है कि मानव-जन्म बड़े पुण्यों से उपलब्ध होता है। यदि मानव-देह मिल भी गयी तो सद्गुरु का वरद हस्त बड़े भाग्य से मिलता है। सद्गुरु का वरद हस्त मिल जाने पर सौभाग्य से ही ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है। इन तीनों के होते हुए भी जब तक मन की कृपा नहीं होती तब तक आत्मज्ञान नहीं हो सकता। भले ही मानव शरीर मिल जाय, सद्गुरु की कृपा भी हो और सर्वोपरि ईश्वर भी क्यों न अनुकूल हों पर यदि मन ही विपरीत हो तो अध्यात्म-राज्य में प्रवेश करने की सामर्थ्य नहीं रहती। तोतापुरीजी को एक साथ चारों कृपा उपलब्ध हो गई थी। वे प्रभु के प्रियजन थे। महामाया ने उनके मन को अपने प्रभाव से कभी भी आच्छन्न

नहीं किया था। अपार ममता के वशीभूत हो महामाया तोतापुरीजी के पथ से बिलकुल हट गई थीं और इस प्रकार तोतापुरीजी को अबाध रूप से अध्यात्म मार्ग में प्रगति करने का अवसर प्रदान किया था। फलतः उन्होंने माया के पाशों का अनुभव कभी किया ही नहीं था। वे माया की शक्ति से सर्वथा अपरिचित थे। यही कारण था कि वे जगद्धात्री महामाया को मिथ्या समझते थे। वे यह नहीं जान पाए थे कि महामाया जगत् को अपने दोनों हाथों से कंदुकवत् नचाया करती है। वे भला यह कैसे समझ सकते थे कि सामान्य जन उसके दंश से व्याकुल होते हुए भी माया से मुक्त नहीं हो सकते, इच्छा रहते हुए भी माया के आकर्षण को त्यागने से बड़ी पीड़ा होती है? वे संसार और उसकी माया के सम्पर्क में आए ही नहीं थे। यद्यपि सद्गुरु के वरद हस्त के नीचे उन्होंने निर्विकल्प समाधि उपलब्ध कर ली थी किन्तु महामाया के इस दूसरे पक्ष से अपरिचित होने के कारण वे पूर्णता से अभी भी कुछ दूर थे।

जिस अवस्था में ब्रह्म और जीव एक रूप हो जाते हैं उसे ही अद्वैत वेदान्त में निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। बिरले ही इस अवस्था तक पहुँच पाते हैं। किन्तु जो इस स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाते हैं उन्हें पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। वे आवागमन के चक्र से मुक्त होकर सदैव आत्मस्वरूप में लीन रहा करते हैं। तोतापुरीजी जीवन्मुक्त महापुरुष थे। ब्रह्मज्ञान उपलब्ध करने के उपरान्त वे लोकसंग्रह की इच्छा से तीर्थाटन और सत्संग में समय व्यतीत करने

लगे। वे महामाया को स्वीकार नहीं करते थे। वे जगन्माता के अस्तित्व को मिथ्या समझते थे। वे यह नहीं मानते थे कि प्रभु हमारे परम आत्मीय हो सकते हैं, उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और तदनुरूप उन्हें पाया भी जा सकता है। वे भक्ति के निगूढ़ भाव को उन्माद समझते थे तथा ईश्वर के लिए विलाप करना उनके मत से मानसिक विघटन का सूचक था। तोतापुरीजी को यह बोध नहीं हो पाया था कि जो ब्रह्म निराकार है, वह भक्त की भावना के अनुरूप साकार रूप भी धारण कर लेता है। वे यह नहीं जान सके थे कि जिसप्रकार सागर के आकारहीन तरल जल में आकारयुक्त ठोस हिमखण्डों का अस्तित्व सम्भव है, उसीप्रकार निराकार ब्रह्म की साकार कल्पना भी मिथ्या नहीं है अपितु चरम सत्य है। वे यह नहीं समझ सके थे कि महामाया मिथ्या नहीं है, वह ब्रह्म ही है और जिस प्रकार अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ब्रह्म और शक्ति भी अभेद हैं। तोतापुरीजी के इसी पूर्वाग्रह को दूर करने के लिए श्रीभगवान् ने उन्हें दक्षिणेश्वर की ओर आकर्षित किया था।

चालीस वर्षों की दीर्घ साधना के उपरान्त तोतापुरीजी को अद्वैत वेदान्त के लक्ष्य की प्राप्ति हुई थी। तदनन्तर वे पर्यटन करते हुए ध्यान और समाधि में अपना समय बिताया करते थे। तोतापुरीजी का नियम था कि वे तीन दिनों से अधिक किसी एक स्थान में नहीं रहते थे। इसबार वे

श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करते हुए गंगासागर जाना चाहते थे। उन्होंने सुना था कि रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर में विशाल मंदिर का निर्माण किया है तथा वहाँ साधु-संन्यासी जनों के विश्राम की विशेष व्यवस्था की गई है। फलतः वहाँ उन्होंने तीन दिनों तक विश्राम करने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से तोतापुरीजी नाव से दक्षिणेश्वर के घाट पर उतरे। उस समय श्रीरामकृष्णदेव तट पर बैठे हुए पुण्यतोया गंगा के वक्ष पर उठती-गिरती हुई तरंगों को अन्यमनस्क-से निहार रहे थे। उनके प्रशान्त मुखमण्डल पर ईश्वरानुराग का अलौकिक तेज व्याप्त था। जगन्माता के पावन साहचर्य में अहर्निश रहने के कारण उनके मन की अवस्था अत्यधिक ऊँची हो गई थी। महामाया ने अपने ही स्वर में श्रीरामकृष्णदेव की हृत्तंत्री के तारों को कस दिया था। उनके श्वास-प्रश्वास ईश्वर-चिन्तन के अविच्छिन्न तार से युक्त थे। उनके हृदय का प्रत्येक स्पन्दन माता को स्पष्ट से स्पष्टतर रूप से आत्मसात् कर रहा था। तोतापुरीजी बंगभूमि—तंत्रप्राण बंगभूमि — में पदार्पण करते हैं। वे समझते थे कि यहाँ विविध क्रिया-अनुष्ठानों से उस शक्ति की पूजा की जाती है जो मिथ्या है। तांत्रिक साधना के आवरण में आवेष्टित बंगाल में श्रीरामकृष्णदेव को देखकर तोतापुरीजी स्तम्भित रह गए। बंगाल जहाँ तंत्र-वायु के साथ बस गया है वहाँ श्रीरामकृष्णदेव जैसे अधिकारी पुरुष को देखकर तोतापुरीजी का आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक था। वे देख रहे थे कि जो युवक इस समय गंगा के वक्ष पर अपनी दृष्टि निबद्ध

किए बैठा है वह साधारण नहीं है; उसके मन का सुर बहुत ऊँचा है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इस युवक में शास्त्रप्रणीत अद्वैत वेदान्त साधना के अधिकारी के समस्त लक्षण विद्यमान हैं और उचित निर्देशन से यह अद्वैत वेदान्त में पारंगत हो सकता है।

तोतापुरीजी ने श्रीरामकृष्णदेव के प्रति एक अदृष्ट आकर्षण अनुभव किया। वे विमुग्ध होकर श्रीरामकृष्णदेव के समीप पहुँचे और उनसे पूछा, "क्यों बेटा, क्या तुम अद्वैत-वेदान्त की साधना करोगे ?" श्रीरामकृष्णदेव ने देखा कि एक दीर्घकाय संन्यासी उनके समीप खड़ा है। उसका वर्ण गेहुँआ रहा होगा किन्तु तितिक्षा के कारण वह श्यामल हो चला है। वह नितान्त दिगम्बर है तथा तपस्या के आलोक से उसका शरीर आलोकित हो उठा है। श्रीरामकृष्णदेव कुछ सोचने के उपरान्त अनमने भाव से बोले, "करने न करने की बात तो मैं कुछ भी नहीं जानता, किन्तु आप तनिक ठहरिए मैं माता से इस सम्बन्ध में पूछ आता हूँ।" यह कहकर श्रीरामकृष्णदेव माता भवतारिणी के मंदिर की ओर चले। माता की प्रतिमा के समीप उपस्थित होकर उन्होंने निवेदन किया, "माँ, एक न्यांगटा आया है और मुझसे अद्वैत वेदान्त की साधना करने के लिए कहता है। बता माँ, इस सम्बन्ध में तू क्या कहती है ?" माता श्रीरामकृष्णदेव को अद्वैत वेदान्त की साधना की सहर्ष अनुमति देती हैं। साथ ही वे यह भी बता देती हैं कि उनकी इस साधना को सम्पूर्ण करने के लिए ही तोतापुरी को दक्षिणेश्वर बुलाया गया है।

प्रसन्नवदन श्रीरामकृष्ण तोतापुरी के समीप आते हैं और अद्वैत वेदान्त की साधना के लिए अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं।

जब श्रीरामकृष्णदेव माता से अद्वैत वेदान्त की साधना की अनुमति लेने दक्षिणेश्वर की ओर जा रहे थे तब तोतापुरीजी ने सोचा कि इनकी जन्मदायिनी माता दक्षिणेश्वर में रहती होंगी जिनसे आदेश प्राप्त करने ये जा रहे हैं। तोतापुरीजी यह नहीं जानते थे कि श्रीरामकृष्णदेव जगन्माता भवतारिणी के विग्रह को ही माता कहते हैं और उनसे वार्तालाप करते हैं। वे यह नहीं जान सके थे कि दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में माता का जो विग्रह है वह पाषाण ही नहीं है अपितु माता की वह प्रतिमा श्रीरामकृष्णदेव की व्याकुलता एवं ईश्वरोन्माद से द्रवित होकर चिन्मयी आद्याशक्ति के रूप में दक्षिणेश्वर को आलोकित कर रही है। जब कालान्तर में उन्हें यह ज्ञात हुआ कि जगदम्बा काली श्रीरामकृष्णदेव की इष्ट हैं तब उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। वे सोचने लगे कि उचित निर्देशन के अभाव में यह भटक गया है तथा थोड़े ही समय में अद्वैत-वेदान्त की साधना में दीक्षित होने पर उसका भ्रम नष्ट हो जाएगा। अतः पूर्ण मनोयोग से वे श्रीराम-कृष्णदेव को अद्वैत-वेदान्त की साधना में प्रतिष्ठित करने के लिए उपदेश देने लगे।

अद्वैत-वेदान्त की साधना संन्यास-दीक्षा के उपरान्त ही प्रारम्भ की जा सकती है तथा संन्यास-ग्रहण करते समय

शिखा-सूत्र का परित्याग करना पड़ता है। इसलिए जब तोतापुरीजी ने श्रीरामकृष्णदेव को संन्यास-ग्रहण करने का परामर्श दिया तब वे कुछ सोचकर बोले, 'मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है किन्तु आपको गुप्त रूप से मुझे संन्यास दीक्षा देनी होगी।" श्रीरामकृष्णदेव ने बताया कि उनकी जन्मदायिनी वृद्धा माता गंगावास के निमित्त दक्षिणेश्वर के नौबतखाने में निवास कर रही हैं और यदि उन्हें श्रीरामकृष्णदेव के संन्यास-ग्रहण का समाचार मिलेगा तो उनके हृदय पर बड़ा आघात पहुँचेगा। यह सुनकर तोतापुरीजी उन्हें गुप्तरूप से संन्यास-दीक्षा देने के लिए तत्पर हो गए।

शुभ तिथि जानकर ब्राह्म मुहूर्त में गुरु और शिष्य पंचवटी में उपस्थित हुए। हवनाग्नि प्रज्वलित की गई और भारत की प्राचीन परम्परा का पुनः पुण्य अवतरण होने लगा। गुरु-शिष्य के समवेत मंत्रोच्चारण से पंचवटी का क्षेत्र गूँज उठा। श्रीरामकृष्णदेव को संन्यास-धर्म में प्रतिष्ठित करने के उपरान्त तोतापुरीजी उन्हें अद्वैत-वेदान्त के गूढ़ तत्त्व समझाने लगे। तोतापुरीजी ने साधना के लिए पंचवटी में एक कुटिया बनवा ली थी। उसी कुटी में गुरु-शिष्य ने पदार्पण किया। दोनों सम्मुख आसीन हो गए।

अब तोतापुरीजी ने अद्वैत-वेदान्त की साधना के अनुरूप श्रीरामकृष्णदेव को निर्देश देना प्रारम्भ किया। उन्होंने शिष्य को आदेश दिया कि वह अपने मन को सभी प्रकार के संकल्प-विकल्पों से रहित कर, नाम और रूप से अतीत

तत्त्व पर केन्द्रित करे। गुरु के आदेशानुसार समासीन श्रीरामकृष्ण देव शीघ्र ही देह ज्ञान भूलकर समाधिस्थ हो गए किन्तु उन्होंने देखा कि उनका चित्त तो माता जगदम्बा के पादपद्मों में ही समाविष्ट हो गया है और वे प्रयत्न करने पर भी अपने मन को नाम-रूप से ऊपर उठाकर विकल्पहीन नहीं कर पा रहे हैं। हताश होकर वे तोतापुरीजी से अपनी असमर्थता ज्ञापित करते हैं। तोतापुरीजी एक सच्चे गुरु थे। वे शिष्य में किसी भी प्रकार की दुर्बलता सहन नहीं कर सकते थे। श्रीरामकृष्णदेव की असमर्थता की बातों को सुनकर वे अत्यन्त कुपित हो गए। उन्होंने भूमि पर पड़े काँच के नुकीले टुकड़े को उठा लिया और उनके भ्रूमध्य पर जोरों से गड़ाते हुए बोले, "होगा कैसे नहीं ? अब देख, जिस स्थान पर वेदना हो रही है वहाँ पर अपने चित्त को एकाग्र कर।" श्रीरामकृष्णदेव बताया करते थे कि तब उन्होंने उसी स्थल पर अपने चित्त को केन्द्रित करने का प्रयास किया। यद्यपि माता की भुवन मोहिनी छवि पुनः उपस्थित हुई किन्तु इस बार वे विचलित नहीं हुए अपितु उन्होंने ज्ञान को खड्ग के रूप में कल्पित करते हुए माता की प्रतिमा के दो टुकड़े कर दिए। उन्होंने देखा कि अब माता की मूर्ति चित्त में नहीं है और उनका मन बड़े वेग से ऊर्ध्व दिशा की ओर आरोहण कर रहा है। कुछ ही क्षणों के उपरान्त वे गम्भीर समाधि में लीन हो गए।

तोतापुरीजी ने देखा कि अब शिष्य ध्यानमग्न हो गया है। वे कुटिया से बाहर आ गए और कुटी के दरवाजे में ताला

लगा दिया ताकि शिष्य की साधना में किसी प्रकार का विघ्न न पहुँचे। वे स्वयं धूनी प्रज्वलित करके बैठ गए और प्रतीक्षा करने लगे कि जैसे ही श्रीरामकृष्णदेव ध्यान से उठकर दरवाजे पर दस्तक देंगे वैसे ही वे दरवाजे को खोल देंगे। धीरे-धीरे उषः वेला आई। श्रीरामकृष्णदेव अब तक ध्यानमग्न थे। दोपहर समाप्त हो गया और सन्ध्या भी हो गई पर श्रीरामकृष्णदेव अब तक नहीं उठे। फिर रात्रि का आगमन हुआ। जगत् को निद्रा की सुरा में प्रमत्त करने वाली गम्भीर यामिनी भी बीत गई और पंचवटी में पक्षियों का कलरव होने लगा। इसीप्रकार तीन दिन और तीन रातें बीत गईं किन्तु तोतापुरीजी को श्रीरामकृष्णदेव के उठने का आभास न मिल पाया। अब तोतापुरीजी से रहा नहीं गया। वे शिष्य की दशा जानने के लिए अतीव आतुर हो उठे। जैसे ही वे कुटिया के अन्दर प्रविष्ट हुए उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्णदेव अभी भी गहन समाधि में लीन हैं। उनका शरीर पूर्णतः निश्चेष्ट हो चला है। शिष्य की देह पर निर्विकल्प समाधि के लक्षणों को देखकर तोतापुरीजी आश्चर्य और उल्लास के प्रवाह में स्तम्भित-से हो गए। उन्होंने शिष्य की देह का स्पर्श करके भी देखा। "महाश्चर्य!" तोतापुरीजी चिल्ला पड़े, "यह ईश्वर की कैसी माया है?" शास्त्रों में निर्विकल्प समाधि में प्रतिष्ठित साधक के जिन लक्षणों का उल्लेख किया गया है, श्रीरामकृष्णदेव की देह पर वैसे ही लक्षणों को तोतापुरीजी ने देखा। वे सोचने लग गए कि जिस अवस्था में प्रतिष्ठित होने के लिए उन्हें स्वयं

जीवन के चालीस वर्षों तक तपस्या करनी पड़ी थी, उसे उनके शिष्य ने मात्र तीन दिनों में उपलब्ध कर लिया है। उनका हृदय असीम आह्लाद और स्नेह से भर उठा। वे बार-बार श्रीरामकृष्णदेव को अपने हृदय से लगाने लगे और उन्हें समाधि से जगाने के लिए जोरों से मंत्रजाप करने लगे।

तोतापुरीजी का विचार पहले दक्षिणेश्वर में केवल तीन दिनों तक विश्राम करने का था किन्तु श्रीरामकृष्णदेव के पुण्य साहचर्य में उनके इस नियम में व्यतिक्रम हो गया और वे पूरे ग्यारह महीनों तक वहाँ रह गये। उन्होंने यह जान लिया था कि उनका शिष्य असाधारण है तथा उसके सामान्य से सामान्य कार्य में भी गूढ़ आशय निहित रहता है। उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को अद्वैत-वेदान्त की साधना में प्रतिष्ठित किया था, पर अब श्रीभगवान् उनके जीवन को सर्वांग पूर्ण बनाने के लिए श्रीरामकृष्णदेव के माध्यम से लीला करते हैं। एक दिन भगवच्चर्चा में लगे रहने के कारण सन्ध्या हो गई। उधर दक्षिणेश्वर में जगन्माता के सन्ध्या-वंदन के लिए शंख बजने लगे। देवमन्दिर घंटियों की मधुर ध्वनि से गूँज उठा। माता की आरती प्रारम्भ हो गई। श्रीरामकृष्णदेव का हृदय तत्त्व-चर्चा से विरत होकर ईश्वरीय भाव से आविष्ट हो गया और वे मुग्ध भाव से तालियाँ बजाते हुए सुमधुर स्वरों में माता का नामोच्चरण करने लगे। उनका यह आचरण देखकर तोतापुरीजी अवाक् होकर सोचने लगे कि यह युवक महान् ज्ञानी होकर भी अज्ञानियों के समान कैसे आचरण कर रहा है? यह कहा जा

चुका है कि तोतापुरीजी साकारोपासना पर विश्वास नहीं करते थे। इसीलिए जब ब्रह्मप्रतिष्ठ श्रीरामकृष्ण तालियाँ बजाते हुए माता का गुणानुवाद करने लगे तब उनका आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक था। उन्होंने उपहास करते हुए श्रीरामकृष्णदेव से कहा, "यह तुम रोटियाँ क्यों ठोंकते हो?" तोतापुरीजी की बातों को सुनकर श्रीरामकृष्णदेव ने उत्तर दिया, "चुप रहिए। मैं ईश्वर का नाम ले रहा हूँ और आप कहते हैं कि मैं रोटियाँ ठोंक रहा हूँ।" उस समय तोतापुरीजी यह सोचकर मौन हो गए कि श्रीरामकृष्णदेव के आचरण में कोई न कोई अभिप्राय निहित होगा। फिर उन्होंने इस सम्बन्ध में उनसे कुछ भी नहीं कहा।

इसीप्रकार एक दिन तोतापुरीजी श्रीरामकृष्णदेव के साथ बैठे हुए ब्रह्म और जीव के अभेदत्व की चर्चा कर रहे थे। सामने धूनी प्रज्वलित थी। नागा साधु अग्नि को सर्वाधिक पवित्र मानते हैं तथा उसे सदैव प्रज्वलित किए रखते हैं। भिक्षा के रूप में उन्हें जो कुछ प्राप्त होता है, उसका कुछ अंश वे पहले अग्नि में समर्पित करते हैं, तदुपरान्त उसे ग्रहण करते हैं। इतने में दक्षिणेश्वर का कोई व्यक्ति उधर से निकला और तम्बाकू पीने के निमित्त धूनी के पास आकर बैठ गया और धूनी की आग से तम्बाकू जलाने लगा। तत्त्व-चिन्तन में तल्लीन होने के कारण तोतापुरीजी ने उसे पहले नहीं देखा, किन्तु जैसे ही उनकी दृष्टि उधर गई वे अत्यन्त कुपित हो गए और चिमटा उठाकर उस व्यक्ति को गालियाँ देते हुए मारने के लिए दौड़े। जब

श्रीरामकृष्णदेव ने तोतापुरीजी के इस आचरण को देखा, तो वे बालकों की तरह तालियाँ बजाते हुए हँसने लगे। तोतापुरी जी ने जब उनके हँसने का कारण पूछा तो श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, "अभी ही तो आप ब्रह्म और जीव को अभेद बनाते हुए ब्रह्म की ही एकमेव सत्ता को सिद्ध कर रहे थे और दूसरे ही क्षण आप उस व्यक्ति पर क्रोधित होकर प्रहार करने के लिए भी उद्यत हो गए। यह आपका कैसा तत्त्व-ज्ञान है? इसे मैं नहीं समझ रहा हूँ।" तोतापुरीजी को अपनी गलती समझ में आ गई। उन्होंने ने कहा, "क्रोध करना एक बड़ा अवगुण है। यह मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देता है। अबसे मैं कभी क्रोध नहीं करूँगा।" तोतापुरीजी बड़े क्रोधी थे किन्तु इस घटना के उपरान्त उन्हें किसी ने क्रोध करते हुए नहीं देखा।

तोतापुरीजी के पास एक चिमटा और पीतल का एक लोटा था। वे उसे प्रतिदिन नियमपूर्वक माँज-धोकर चमकीला बनाए रखते थे। एकदिन जब श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे इसका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा, "देख, मनुष्य का मन भी ठीक इस लोटे के समान है। यदि इस लोटे को एक दिन भी न माँजा जाय तो यह मैला हो जाता है। ठीक इसीतरह मन की भी गति है। मन को पूरी तरह से स्वच्छ और उज्ज्वल बनाए रखने के लिए प्रतिदिन नियमपूर्वक ध्यान-साधना करनी चाहिए। यदि एक भी दिन नागा हुआ तो मन की गति विपरीत हो जाती है।" इसपर श्रीरामकृष्णदेव बोले, "यह तो ठीक है। पीतल के लोटे को ही रोज-रोज

माँजने की जरूरत होती है किन्तु यदि लोटा सोने का हो तो उसे रोज-रोज नहीं माँजना पड़ता।" तोतापुरीजी श्रीरामकृष्णदेव का अभिप्राय समझकर बोले, "हाँ, तू ठीक कहता है। यदि लोटा सोने का हुआ तो उसे रोज-रोज माँजने की जरूरत नहीं पड़ती।" तोतापुरीजी समझ गए कि प्रतिदिन ध्यान और साधना की उपयोगिता तभी तक है जब तक मन अपरिपक्व रहता है। किन्तु जब ईश्वरदर्शन से वह कंचनवत् हो जाता है तब उनकी अधिक उपयोगिता नहीं रह जाती और मन सहजरूप में ईश्वरीय भाव में लीन रहा करता है।

यद्यपि श्रीरामकृष्णदेव के साहचर्य के लोभ से तोतापुरीजी दक्षिणेश्वर में रुक गए किन्तु कलकत्ते की जलवायु का उनके शरीर पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। उन्हें भयानक रक्त-आँव की बीमारी हो गई। इस जानलेवा रोग ने तोतापुरीजी के सुदृढ़ शरीर को क्षीण करना आरम्भ कर दिया। पहले-पहल उन्होंने शरीर की ओर ध्यान नहीं दिया किन्तु जब पीड़ा असह्य हो गई तब उन्होंने सोचा कि सम्भवतः दक्षिणेश्वर छोड़ देने पर उन्हें इस रोग से मुक्ति मिल सकती है। यह सोचकर वे श्रीरामकृष्णदेव से विदा लेने का विचार करने लगे। किन्तु जैसे ही वे श्रीरामकृष्णदेव के समीप विदा लेने के लिए पहुँचे, वे ईश्वर-चर्चा में लीन हो गए और विदा लेना भूल गए। एकही बार ऐसा नहीं हुआ किन्तु जब भी वे इस बात का संकल्प करके श्रीरामकृष्णदेव के पास जाते, वे विदा लेना भूल जाते और अपनी

अस्वस्थता की बात उनके मुख से नहीं निकलती। एक दिन अर्द्ध रात्रि में तोतापुरीजी के पेट में भयानक शूल उठने लगा। वे वेदना से उठकर बैठ गए और अपने मन को शरीर से हटा-कर समाधि में लगाने का प्रयास करने लगे। किन्तु तोतापुरीजी के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा ! जो मन सर्वदा उनका दास रहा है और उनके संकल्पों के अनुसार नियमित होता रहा है वह अब विद्रोही प्रतीत होने लगा। तोतापुरीजी उसे शरीर से ऊपर उठा ही नहीं सके। खिन्न मन तोतापुरीजी ने हताश होकर शरीर को त्याग देने का संकल्प किया। वे सोचने लगे कि जो शरीर रोग में आलिप्त होकर मन को अपने पास में बाँध लेता है, उसे रखकर भला क्या लाभ है ? पुण्यतोया भागी-रथी की लहरें उच्छ्वसित हो रही थीं। तोतापुरीजी ने शरीर को त्यागने का सकल्प करके गंगा में प्रवेश किया। किन्तु वे जल के भीतर जितना अधिक प्रविष्ट हाते जाते थे, जल उतना ही घटता जाता था। चलते-चलते वे गंगा के दूसरे किनारे में पहुँच गए किन्तु उन्हें कहीं भी घुटने से अधिक जल नहीं मिला। तोतापुरीजी विस्मय से अभिभूत हो गए और सोचने लगे कि ईश्वर की यह कैसी माया है ! तभी उनके पूर्वाग्रह एक-एक करके नष्ट होने लगे। उन्होंने देखा कि मन के गहनतम स्तरों में एक अपूर्व स्पन्दन हो रहा है। उन्होंने अनुभव किया कि उनके समस्त ज्ञान और विवेक के आवरण को नष्ट करते हुए महामाया का ज्योति-विग्रह आविर्भूत हो रहा है। बड़ा अलौकिक था यह अनुभव। तोतापुरीजी जगदम्बा के अस्तित्व को सदैव नकारा करते थे किन्तु अब उन्हें दिखने लगा कि माता जगत् की प्रत्येक वस्तु

में विद्यमान हैं। जो कुछ है, वह माँ ही है। जड़-जंगम में वे ही हैं। वे मिथ्या नहीं हैं अपितु वे ही एकमेव सत्य हैं। माता के दिव्य दर्शन से तोतापुरीजी विभोर हो उठे, उनका हृदय एक अलौकिक आनन्द से भर उठा और वे तरह-तरह से माता का गुणानुवाद एवं भजन करने लगे। उन्होंने जान लिया कि माता की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, उनकी इच्छा यदि न हो तो शरीर त्यागना भी सम्भव नहीं हैं। ब्रह्मशक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करने के उपरान्त तोतापुरीजी का जीवन सर्वांग सम्पूर्ण हो गया। वे जैसे आए थे वैसे ही जल में चलते हुए दक्षिणेश्वर लौट आए। उन्होंने देखा कि उनके दक्षिणेश्वर आने का प्रयोजन पूरा हो गया है और वे बड़ी आतुरता से प्रातःकाल होने की प्रतीक्षा करने लगे। दूसरे दिन श्रीरामकृष्णदेव ने देखा कि तोतापुरीजी के शरीर में रोग का चिह्न तक नहीं रह गया है और उनका मुख-मण्डल अलौकिक कांति से भर उठा है। तोतापुरीजी ने रात्रि की बातों को बताते हुए श्रीरामकृष्णदेव को हृदय से लगा लिया और विदा ले ली।

हमारा जन्म हमारे कर्मों का फल है, किन्तु मुक्ति केवल उसकी कृपा से आती है। ओ नानक, यह जान लो कि वह सत्य स्वरूप सभी में विद्यमान है।

—गुरु नानक

# शंकराचार्य

श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मिशन।

मनुष्य की प्रतिष्ठा तभी होती है जब उसके प्रत्येक हाव-भाव में, हर शब्द और हर क्रिया में बन्धन से मुक्त होने का भाव साकार हो उठता है — चाहे वह बन्धन चिरन्तन हो अथवा आकस्मिक और चाहे वह स्वाधीनता धर्म के क्षेत्र में हो अथवा समाज या राजनीति के क्षेत्र में। प्रत्येक नवीन मनुष्य के साथ ही मानो एक नूतनत्व जड़ित रहता है जिसके स्पर्श से निराश, रुग्ण प्राणों में भी जीवन-दीप जल उठता है। सैकड़ों सदियों से आचार्य शंकर धर्मपिपासुओं के हृदय में जो चेतना की लहर जगाते रहे हैं उसके पीछे भी निश्चय ही इसी प्रकार की कोई शक्ति है। किन्तु खेद यह है कि किसी भी विषय में आज तक मनुष्य एकमत नहीं हुए हैं। शंकर की प्रतिभा उनके मायावाद की प्रतिष्ठा तथा संन्यास के स्थापन में विशेष रूप से विकसित हुई है और ठीक इन्हीं दो विषयों में उनके प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या भी अगणित हुई है।

पुराणकारों[1] ने कहा कि मायावाद 'असत् शास्त्र' है, 'अवैदिक' और 'बौद्ध' है, और इस प्रकार इन तीन छोटे विशेषणों द्वारा उन्होंने उसकी जन्मकुंडली बना डाली, उसके चरित्र का वर्णन कर दिया और उसका श्राद्ध भी सम्पन्न कर

---

१. पद्म पुराण और वराह पुराण।

डाला। उनके मतानुसार मायावाद का जन्म बौद्ध समाज में हुआ है, उसका उद्देश्य समाज का सर्वनाश करना है और हिन्दुओं के साथ उसका किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं है। पर सौभाग्य की बात है कि सारे पुराण इतने चरमवादी नहीं हैं। आचार्य को अवतार के पद पर प्रतिष्ठित करनेवाले तथा उनके मत को वैदिक बोलने वाले लोगों का भी अभाव नहीं हुआ।[1] सार बात यह है कि जब किसी मतवाद में उसकी अपनी अदम्य शक्ति रहती है तो जैसे वह धक्का खाता है उसी प्रकार वह प्रतिघात भी करता है। पुराणों में तत्कालीन क्रिया और प्रतिक्रिया की छवि ही प्रतिबिंबित हुई है। पुराणों के इन अंशों की कोई विशेष मर्यादा नहीं है क्योंकि वे आधुनिक हैं—शंकर के बहुत बाद के हैं, यहाँ तक कि रामानुज के परवर्ती काल के हैं। दूसरी बात यह है कि जिनका उद्देश्य अपने मत की प्रतिष्ठा और अपने सम्प्रदाय की मर्यादा बढ़ाना मात्र है, उनका सत्य का मापदंड सीधा नहीं रह सकता, प्रयोजन के अनुसार कुछ टेढ़ा हो ही जाता है। पुराणों ने अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक चश्मे के भीतर से ही धर्म को देखा है।

पुराणों का अपना गुरुत्व जितना हो या न हो किन्तु उनका मतामत आज हजार वर्ष बाद भी कई पंडितों के मुख से हम सुनते हैं। पहला विचारणीय विषय है मायावाद का जन्म—अर्थात् वह बौद्ध मत का ही रूपान्तर है या नहीं? शंकर

1. कूर्म पुराण।

बौद्धयुग के अवसानकाल में अवतीर्ण हुए थे इसलिए स्वाभाविक रूप से यह संदेह होता है कि वे इस विषय में ऋणी हो सकते हैं। इस संदेह का प्रथम कारण है गौड़पाद की माण्डूक्यकारिका तथा नागार्जुन की माध्यमिककारिका के शब्दों, छंदों और भावों का कुछ अंशों तक ऐक्य। गौड़पाद शंकराचार्य के गुरु के गुरु थे और नागार्जुन गौड़पाद से भी पहले के थे। बस इसी बात के आधार पर बौद्धमत शंकरमत में बदल गया और बौद्धों का 'शून्य' शंकर के 'ब्रह्म' में परिणत हो गया! किन्तु यथार्थ घटना इतनी सरल नहीं है। क्योंकि यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि जिन नागार्जुन को इतने ऊँचे आसन पर बिठाया गया वे स्वयं किसके ऋणी हैं। माध्यमिककारिका में 'प्रपंचोपशमं शिवम्' इत्यादि जो औपनिषदिक् भाव और भाषा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि नागार्जुन हिन्दू विचारधारा को ही एक युगोपयोगी रूप देना चाहते थे, पर वे अपने प्रयत्न में उतने सफल न हुए। इसीलिए गौड़पाद ने बौद्धाचार्य के छन्दों की रक्षा करते हुए नवीन कारिका की रचना की। वर्तमान युग में भी दूसरे के द्वारा निर्मित साँचे के भीतर एक नवीन रचना करना प्रचलित है। इसके सिवाय, इसके यथेष्ट प्रमाण हैं कि नागार्जुन हिन्दू भावधारा से प्रभावित थे। बौद्ध संघ में जब पहली दरार पड़ी तब थेरावादियों और महासंघिकों का सृजन हुआ। धीरे धीरे महासंघिकगण महायानियों में परिणत हुए। इस परिवर्तन के आरंभ करनेवालों में मुखिया थे नागार्जुन, और वे ब्राह्मण थे, तथा उनके गुरु राहुल भी

वही पर थे। लामा तारानाथ ने तो यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि राहुल वैष्णव और गाणपत्य धर्म से प्रभावित थे। कर्न साहब ने लिखा है। कि महायानियों का धर्मग्रंथ भगवद्गीता से प्रभावित है और उनका धर्म शैव और वैष्णव मतों का ऋणी है।* बौद्धों की निर्वाण संबन्धी धारणा बहुत कुछ नेतिमूलक थी, पर हिन्दुओं की आध्यात्मिक रश्मि पड़ने से वह धीरे-धीरे इतिमूलक हो गई — देवी-देवताओं का भी उसमें आविर्भाव हो गया और मानव-बुद्ध के भी ऊपर एक ध्यानी-बुद्ध और उनकी शक्ति की आवश्यकता हो गई। एवंविध बौद्ध का ऋणी कहना ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार हिन्दू को हिन्दू का ऋणी कहना।

इस विवेचना से यह प्रतीत होता है कि शंकराचार्य को पूरी तरह से बौद्धों का ऋणी नहीं कहा जा सकता। ऐसा लगता है कि मुगलकाल में चहुँओर के वातावरण के कारण रामानुज और चैतन्य महाप्रभु का धर्म अथवा धर्म का बाहरी रूप जिस प्रकार अपने सनातन रूप की रक्षा नहीं कर पाया और नवीनता के भीतर से जैसे उसने उसी चिरन्तन वैदिक सत्य को प्रकट किया, उसी प्रकार शंकराचार्य के धर्मसंस्कारों पर भी बौद्धधर्म की किरणें पड़ी थीं पर उन किरणों की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर की प्रतिभा बौद्ध दर्शन को अस्वीकार करने के बावजूद भी बौद्ध-प्रभावित समाज को अस्वीकार नहीं कर सकी

* Manual of Buddhism – Kern

बुद्ध का ज्ञानप्राधान्य, वैदिक कर्ममार्ग के प्रति बुद्ध की विरक्ति, शूद्रों के प्रति बुद्ध की अहैतुक कृपा तथा संघ के सहारे बुद्ध का धर्मप्रचार — ये बातें आचार्य के जीवन में भी दिखाई देती हैं। दर्शन के क्षेत्र में वे बौद्धों के परम शत्रु हैं। मल्लयुद्ध की उपमा से उन्होंने जिन कतिपय मल्लों को युद्ध के लिए ललकारा है उनमें बौद्ध भी एक है। यह तो पता नहीं कि कभी किसी बौद्ध ने शंकर को बौद्ध सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त करने का प्रयत्न किया है या नहीं। पर आजकल के लोग जो ऐसा प्रयत्न करते हैं, वह कौतुक के रूप में कोई बुरा नहीं है। शंकर के समय जितने प्रधान बौद्धमत भारत में प्रचलित थे, उन सभी का विश्लेषण करके उन्होंने उनसे अपना पार्थक्य दिखाया है। यदि वे वास्तव में बौद्ध के ऋणी होते, तो उनकी इतनी कोशिश के बावजूद भी वह ऋण — उनके तर्कों का वह खोखलापन — सबकी नजर में पड़ता। शंकर को मिथ्यावादी नहीं कहा जा सकता, और ऐसा भी सम्भव नहीं है कि वे दूसरों के मत के सम्बन्ध में अज्ञ हो; क्योंकि सभी दार्शनिक मतों का सुस्पष्ट चित्र खींचने में उन्हें कमाल हासिल है। यद्यपि जापानी पण्डित यामाकामी* ने शंकर द्वारा आँके गये बौद्ध चित्र को काल्पनिक कहा है, तथापि चीन देश में प्रचलित पुस्तकों के आधार पर इस सीमा तक दोषारोपण अन्याय ही प्रतीत होता है। उस समय भारत में पण्डितों का अभाव नहीं था। पर उनमें से किसी ने शंकर के पाण्डित्य पर सन्देह नहीं किया है। ऐसा भी सम्भव है

* Systems of Buddhist Thought — Yamakami.

कि जिसे यामाकामी ने महायान मत के नाम से अंगीकार किया है, उसे भारतीय पण्डित हिन्दूधर्म का ही एक रूपान्तर समझते थे; इसीलिए भलेही युद्धक्षेत्र में उन्होंने महायानमत को छूट दी हो, तथापि मूल तत्त्व की दार्शनिक धारणा के सम्बन्ध में जो मतभेद है उसे उन्होंने स्पष्ट रूप से दिखाया है।

दूसरा विचारणीय विषय है— मायावाद की वैदिकता। यह बात पहले ही कह देना उचित होगा कि मायावाद या 'माया' शब्द शंकराचार्य का मनगढ़न्त नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् भी जिन ग्रन्थों को बुद्ध के पहले का बताते हैं तथा कहते हैं कि उनके अभाव में बौद्ध धर्म का अभ्युदय नहीं हुआ होता,* उन ग्रन्थों में भी मायावाद के प्रचुर उदाहरण भरे पड़े हैं। संहिता, उपनिषद् और गीता ही यथेष्ठ प्रमाण हैं। बौद्धों ने भी मायावाद को स्वीकार किया था, पर आचार्य के अर्थ में नहीं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "बौद्धों के हाथ में वह बहुत कुछ विज्ञानवाद ( Idealism ) में बदल गया था, और माया शब्द का व्यवहार साधारणतया इसी अर्थ में हो रहा है। हिन्दू जब कहता है कि 'जगत् मायामय' है, तो साधारण मनुष्य के मन में यही भाव जगता है कि 'जगत् कल्पना मात्र' है। पर वेदान्तोक्त माया का अन्तिम परिस्फुट रूप विज्ञानवाद, वास्तववाद (Realism) अथवा अन्य कोई मतवाद नहीं है। हम क्या हैं और सर्वत्र क्या देख रहे हैं—बस इसी के सम्बन्ध में यथार्थ घटना का

* Some Problems of Indian Literature— Wintrnitz.

वह सहज वर्णन मात्र है। ''' 'जगत् मिथ्या' है इसका क्या अर्थ है ? यही कि इसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। '''' इसे अस्तित्व शून्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसकी विद्यमानता है और इसके साथ मिलकर ही हमें कार्य करना होगा।" वह "सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीया" है — सत् और असत् से परे है, अकथनीय है। गीता में मायावाद का इतना स्पष्ट उल्लेख है कि आचार्य के भाष्य की सहायता बिना भी वह हमारी दृष्टि में आता है। उपनिषदों में भी मायावाद स्थान स्थान पर सन्निविष्ट है और बिना शांकरभाष्य की सहायता लिये ही अपने आपको प्रकट करता है। उपनिषद् के अनुवाद का अनुवाद पढ़कर तथा शंकर का शिष्यत्व स्वीकार किये बिना ही शोपेनहावर मत प्रकट करते हैं—" 'सत्य वस्तु एक है' यही उपनिषद् की भित्ति है। बहुत्व केवल आपात-प्रतीयमान है।"

मायावाद की प्राचीनता के संबन्ध में और एक युक्ति यह है कि शंकराचार्य असांप्रदायिक नहीं थे,— तात्पर्य यह कि जो सत्य सुदूर अतीत के गर्भ से अपने ही आप निकल कर गुरु-परंपरा के माध्यम से नहीं आया है उसकी प्रामाणिकता उनके लिए बिलकुल अग्राह्य थी। सत्य का आविष्कार तो केवल ऋषि-हृदय में होना चाहिए और उसके अंगों पर युग-युगान्तर की साधना का वर्म होना चाहिए। शंकर के पहिले भी अद्वैतवादी थे इसका प्रमाण वेदान्तसूत्र में मिलता है। शंकराचार्य ने एक मनगढ़न्त संप्रदाय खड़ा कर तत्कालीन पंडितों की आँखों में धूल डालनी चाही थी, ऐसी अद्भुत

कल्पना तो हम नहीं करते; पर अद्वैतवाद की आज हम जो सुगठित मूर्ति देख रहे हैं उसका अधिकांश शिल्पकार्य शंकर की प्रतिभा का परिचायक है यह बात भी हम स्वीकार करते हैं। अतीत का माल-मसाला लेकर युग के अनुकूल चित्ता-कर्षक मूर्ति गढ़ लेना शक्तिमानों का ही कार्य होता है।

हमने पहिले ही कहा है कि बहुत से लोग मायावाद का सही अर्थ न समझकर आचार्य पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं। वे कहते हैं कि मायावाद नीति की नींव को शिथिल कर देता है। आचार्य के मत की विवेचना करने से हम देखते हैं कि वे सत्य का एक आपेक्षिक विभेद स्वीकार करते थे; वे कहते थे कि द्रष्टा की मानसिक अवस्था के अनुसार एक ही सत्य प्रातिभासिक, व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक सत्य के रूप में प्रतिभात हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि एक ही सूर्य के विभिन्न फोटो हो सकते हैं तथापि उनमें से प्रत्येक ही सत्य है। अतः जिस समय जिसको हम सत्य कहकर विश्वास करते हैं, उस समय उसको मिथ्या कहकर पुकारना ही सबसे बड़ी मिथ्या है! इस संसार में मैं चलता-फिरता हूँ, हँसता-बोलता हूँ, खाता-पिता हूँ — इन सब बातों में जब जगत् को सत्य ही मानता हूँ तो उसे फिर मिथ्या कैसे कहूँ? हाँ एक पहलू यह है कि जिस दिन जगत् के चरम सत्य की उपलब्धि हो जायेगी उस दिन इस छोटे सत्य का आकर्षण नष्ट हो जायेगा; पर जब तक यह नहीं होता है तब तक इसका सहारा लेकर ही आगे बढ़ना होगा। जब ऐसा लगेगा कि कर्म के द्वारा ही सत्य की प्राप्ति होगी, उस

समय कर्म ही कर्त्तव्य है और जब ऐसा प्रतीत होगा कि उपासना ही कर्त्तव्य है उस समय उपासना ही मुक्ति का रास्ता बनेगी। पर हाँ, साधारण मनुष्य और साधक में यह अन्तर है कि साधारण मनुष्य प्रवृत्ति का दास है और साधक शास्त्रों के अधीन होता है। बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करने के लिए अथवा कर्त्तव्यबुद्धि का नाश कर एक मनगढ़न्त आदर्श की ओर खींचने के लिए कोई उपाय न तो शास्त्र अथवा शंकर ने किया है, न कर ही सकते हैं। 'पंजाबी वेदान्त' की उत्पत्ति के लिए शङ्कर दोषी नहीं हैं। उन्होंने कभी भी 'जगत् त्रिकाल में है ही नहीं' ऐसा कहकर उसे फूँककर उड़ा देने का परामर्श नहीं दिया; क्योंकि वे जानते थे कि इस प्रकार के प्रयत्न से संसार और भी भयानक रूप से जीवन पर आघात करता है और सुनहले स्वप्नों को नष्ट कर देता है। इसीलिए उन्होंने कर्म की एक विशेष मर्यादा को स्वीकार किया। कर्म से हृदय पवित्र होता है— वह भगवान् के भाव को धारण करने में समर्थ होता है।[1] जिसको इस प्रकार का बोध है कि उसे कर्म करना है, आत्मज्ञान न होने के कारण जिसका कर्म नष्ट नहीं हुआ, उसे तो कर्म करना ही होगा। आत्मज्ञान किसी कर्म के द्वारा नहीं मिलता, इसलिए बलपूर्वक कर्मत्याग के भीतर भी जो कर्म की प्रवृत्ति छिपी हुई है वह भी ब्रह्ममार्ग की बाधा है। शंकर अधिकारवाद को मानते थे और अधिकार का उल्लंघन करनेवालों के वे कट्टर विरोधी

१. गीता भाष्य।

थे। कर्म करना या न करना सत्य की विशेष उपलब्धि अथवा हृदय की विशेष अवस्था या विशेष अधिकार पर ही निर्भर करता है। अद्वैत वेदान्त का अधिकारी कौन हो सकता है इस पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि जो नीति के क्षेत्र में मनुष्यता की चरम सीमा पर पहुँच गया है वही इस शास्त्र का अधिकारी हो सकता है।[1] मनुष्य प्रवृत्तियों का दास है। प्रवृत्तियों की प्रेरणा से वह काम करता है और उसी के उपयुक्त एक दर्शन बना लेता है। यदि शंकर ने मायावाद का प्रचार न किया होता तो भी संसार में आलस्य का अभाव न होता। अतएव अपने धर्म से हट जाने के लिए हम शंकर को दोषी नहीं बना सकते। यह सोचकर कि सर्वोच्च सत्य को नीच व्यक्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि का माध्यम बना लेता है, क्या उच्चतम अधिकारी के उचित अधिकार का दमन कर चरम सत्य को गुप्त रखना होगा? शंकर के दर्शन को अनैतिकता का भंडार कहना और 'चाबुक हटाते ही हम पाप करेंगे' यह कहना एक ही बात है।

कर्म-त्याग के प्रसंग में हम संन्यास की विवेचना में आ पड़े हैं। हम देखते हैं कि अवसर मिलते ही शंकर संन्यास की बात उठाते हैं और कहते हैं कि बिना संन्यास के ब्रह्मज्ञान नहीं होगा। तो क्या वे समूचे भारतवर्ष को संन्यासी बना डालना चाहते थे, या फिर स्वयं संन्यासी होने के नाते व्यर्थ ही संन्यासी की मर्यादा बढ़ा देना चाहते थे? जिन्होंने

---

१. वेदान्त सूत्र भाष्य।

आचार्य के दर्शन का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि उन्होंने संन्यास शब्द का व्यवहार एक विशेष मानसिक अवस्था के लिए किया है। हम संन्यास शब्द से जो वेशधारी की अवस्था समझते हैं, उसे वे परिव्रज्या या व्युत्थान कहते थे।[1] बहिःसंन्यास अथवा परिव्रज्या एवं अन्तःसंन्यास अथवा वासना-त्याग इन दोनों के लिए ही हम संन्यास शब्द का उपयोग करते हैं, इसीलिए आचार्य के भाव को नहीं पकड़ पाते और उनके प्रति अन्याय करते हैं। बाद की विवेचना में इन दो शब्दों का उपयोग हम इन्हीं अलग अलग अर्थों में करेंगे। आचार्य ने परिव्रज्या पर बहुत जोर दिया है पर यह बात उन्होंने नहीं कही है कि परिव्रज्या के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता।

केवल बौद्ध भिक्षुओं के प्रभाव से ही आचार्य शंकर परिव्रज्या की ओर नहीं खिंचे थे; असल में मीमांसकों ने कर्म पर इतना जोर दिया कि धर्म की मूल बात वासना-त्याग को वे भुला दे रहे थे; इसीलिए आचार्य ने परिव्रज्या का विधान किया और यही कारण था कि उन्होंने वासनामूल 'कर्म' के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में वासनाहीन 'संन्यास' को खड़ा किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में संन्यास की जो बात कही है, शंकर उसका पूरा अनुमोदन करते थे; तभी तो उन्होंने गीता भाष्य की रचना की है। महाभारत में वर्णित धर्मव्याध व्याध थे, और विदुर शूद्र थे, अतएव परिव्रज्या के अधिकारी

१. बृहदारण्यक भाष्य एवं ऐतरेय भाष्य।

नहीं थे किन्तु वे 'संन्यास' की अवस्था में पहुँचकर ब्रह्मज्ञानी हो गए थे। राजर्षि जनक ने राजकार्य में लिप्त रहते हुए भी ब्रह्मलाभ किया था।[1] ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है। शंकर के दर्शन में संन्यास और ज्ञाननिष्ठा समानार्थी हैं। व्यावहारिक रूप से जैसे चित्तशुद्धि का एक क्रम है, वैसे ही संन्यास का भी एक क्रम है। संन्यास के मुख्य और गौण ऐसे दो भाग स्वीकार किए जाते हैं। इधर मुख्य संन्यास के भी दो प्रकार हैं विविदिशा और विद्वत्; गौण संन्यास सत्त्व, रज और तम गुणों के तारतम्यानुसार तीन भागों में बँटा है। संन्यास के इस श्रेणी-विभाग से भी यह प्रमाणित होता है कि शंकर के मतानुसार संन्यास मानसिक अवस्था का ही एक नाम है। भगवान् के प्रति भक्ति के फलस्वरूप अन्य सब प्रकार की आसक्तियों का धीरे धीरे दूर हो जाना ही संन्यास कहलाता है। यह मानों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक पहलू इतिमूलक भगवद्भक्ति है और दूसरा पहलू है नेतिमूलक संसार-त्याग। यह एक स्वाभाविक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। भले ही शंकर ने कर्म के साथ ज्ञान का स्वरूप-समुच्चय स्वीकार नहीं किया है तथापि क्रम-समुच्चय अवश्य ही स्वीकारा है। जहाँ ज्ञान की पराकाष्ठा है अथवा ब्रह्मज्ञान का परिपूर्ण विकास है, वहाँ जैसे कर्म असार है वैसे ही संन्यास भी अर्थहीन है। उस अवस्था में परिव्रज्या भी रह सकती है और गार्हस्थ्य अथवा अन्य कोई सांसारिक

१. गीता भाष्य और ब्रह्मसूत्र भाष्य।

अवस्था भी रह सकती है। उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। ऐतरेय उपनिषद् के भाष्य में यह स्वीकार किया गया है कि गृहस्थ के जीवन में भी ऐसा दिन आ सकता है जब वे घर में रहकर भी किसी विशेष घर को अपना नहीं सोच पाते।

आचार्य के दर्शन में 'कर्म' शब्द का भी एक विशेष अर्थ है। 'एकमात्र ज्ञान के ही द्वारा अज्ञान का नाश होता है' इस बात को प्रमाणित करते हुए यदि वे कर्म के दावे को अस्वीकार कर देते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि वे बिल्कुल कर्ममार्ग के विरोधी हैं। उनके मतानुसार कर्म का विशेष लक्षण है कर्तृत्व-अभिमान, अर्थात् यह अभिमान कि 'मैं इस कार्य का कर्ता हूँ'। जहाँ यह मिथ्या अहंकार नहीं है वहाँ भी साधारण अर्थ में कर्म रह सकता है, पर वह कर्म बन्धन का कारण नहीं हो सकता और उस प्रकार के कर्म के साथ ज्ञान का विरोध भी असम्भव है। अवतारी पुरुषों और जीवन-मुक्त महापुरुषों के जीवन में हमें इसी प्रकार का कर्म दिखाई देता है। स्वयं महाज्ञानी आचार्य शंकर ने ही क्या कम कर्म किया था? इतने भाष्य लिखकर, देश-विदेश में विजय-यात्राएँ और मठों की स्थापना करके वे अपने जीवन में कर्म की ही पराकाष्ठा दिखा गये हैं। कर्तृत्वाभिमान रहित इस महापुरुष का इससे कोई स्वार्थ-साधन नहीं हुआ था और न होने की बात ही थी। इस भाँति विचार करने पर हम 'संन्यास' के मर्मस्थल पर पहुँच सकते हैं। इस अभिमान के त्याग का दूसरा नाम ही संन्यास है। पर तीव्र वैराग्य के फल स्वरूप कर्म का सम्पूर्ण त्याग भी हो सकता है, अर्थात्

अभिमान और अभिमान के अवलम्बन स्वरूप बाहर के विषय – इन दोनों का भी त्याग हो सकता है। तभी परिव्रज्या की स्थिति आती है।

अन्त में और एक बात यह है कि शंकर ने शूद्र का भी ब्रह्मज्ञान में अधिकार माना है, और साथ ही साथ दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि एकमात्र ब्राह्मण का ही परिव्रज्या में अधिकार है[1]। इस 'ब्राह्मण' शब्द से वे ब्राह्मण जाति समझते थे या नहीं इस विवाद की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। पर यह बात स्पष्ट है कि ब्राह्मणेतर जातियाँ भी बिना परिव्रज्या के ब्रह्मज्ञान की स्थिति में पहुँच सकती हैं। अतः जब आचार्य यह कहते हैं कि संन्यास के बिना ब्रह्मज्ञान न होगा, तो समझना होगा कि उनका अभिप्राय मानसिक संन्यास से है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे यह स्वीकार करते हों कि मन से अभिमान का त्याग करना ही पर्याप्त है और बाहर से अभिमान का त्याग अनावश्यक है। वास्तव में मनुष्य को बाहरी और भीतरी ऐसे दो भागों में नहीं बाँटा जा सकता। जब अभिमान का त्याग होगा, तब उसका भीतर और बाहर न रहेगा — वह तो परिपूर्ण रूप से ही होगा।

—'उद्बोधन' से साभार।

संसार के प्रति आसक्ति ही सारी बुराइयों की जड़ है।

—पैगम्बर मुहम्मद

१. बृहदारण्यक भाष्य।

# कुत्ते की टेढ़ी पूँछ

बहुत दिनों पहले की बात है, भारत के एक गाँव में एक गरीब किसान अपनी टूटी-फूटी झोपड़ी में रहा करता था। उसे अपना पेट भरने के लिए सबेरे से शाम तक कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी। वह अपने कष्टदायक काम से इतना उकता गया था कि वह रात-दिन किसी अलौकिक शक्ति से सहायता पाने के सपने देखा करता था। एक दिन उसने सुना कि यदि कहीं से उसे एक प्रेत मिल जाय तो वह उसका सारा काम कर देगा। उसने सोचा कि यदि वह किसी साधु-महात्मा से ऐसी प्रार्थना करे तो उसकी मनोकामना पूरी हो सकती है। बहुत दिनों से वह एक ऐसे महात्मा को जानता था जो उसकी झोपड़ी से कुछ ही दूरी पर अपनी कुटिया बनाकर रहा करते थे। उसने एक दिन उनका दर्शन कर एक प्रेत माँगने का विचार किया।

अगले शनीचर की रात को वह आधा-पेट खा कर सो गया। सबेरे उठते ही वह बिना हाथ-मुँह धोए और कलेवा किए महात्माजी से मिलने चला। जैसे ही वह महात्माजी की कुटिया के दरवाजे के समीप पहुँचा वैसे ही कुटिया से आवाज आई, "अन्दर आ जाओ।" अन्दर महात्माजी बैठे थे। वह बेचारा किसान भीतर गया और महात्माजी को तीन बार साष्टांग प्रणाम किया। महात्माजी ने उसे तीनों बार 'नारायण - नारायण' कहते हुए आशीर्वाद दिया और उससे बैठने के लिए कहा। वह व्यक्ति कमरे के एक कोने में बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ पालथी मारकर बैठ गया।

महात्माजी ने पूछा—"कहो भाई, तुम कुशल से तो हो ? मुझे स्मरण है कि मैंने तुम्हें यहाँ दो साल पहले कभी देखा था।"

किसान ने आँखों में आँसू भरकर उत्तर दिया—"क्या बताऊँ, महाराज ! मेरी हालत बड़ी खराब है। इसीलिए मैं आपका दर्शन करने के लिए आया हूँ। मुझे दिन निकलने के पहले से दिन डूबते तक काम में पिसना पड़ता है। मैं काम की चक्की में पिसता जा रहा हूँ। जब सूरज डूब जाता है तब मैं रास्ते से जलाने के लिए लकड़ियाँ बटोरता हुआ अपनी झोपड़ी की ओर लौटता हूँ और तब कहीं रात का भोजन बनाता हूँ। क्या कहूँ महाराज ! छाँछ और माड़ पीकर मैं किसी तरह जी रहा हूँ। मैं माँड़ में नमक और मिर्च मिलाता हूँ और उसमें आधे नीबू का रस निचोड़ कर पी लेता हूँ। उसी में से थोड़ा सा माँड़ मुझे सबेरे के कलेवे के लिए बचाना पड़ता है। मेरा काम बहुत थका देने वाला है। मैं ऐसे कठिन काम को बरसों से कर रहा हूँ पर अब मैं नहीं सह सकता। मैं अपने शरीर और मन को आराम देना चाहता हूँ।"

महात्माजी बोले—"तो भाई, मैं भला इसमें तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ ?"

किसान ने कहा—"महाराज ! मैंने गाँव के बुजुर्गों से सुना है कि महात्मा लोग अलौकिक शक्ति भी दिया करते हैं। इसलिये मैं आपके पास यह प्रार्थना करने आया हूँ कि आप एक प्रेत देकर मुझे काम के बोझ से पिसने से उबार

लीजिए। वह प्रेत मेरा सारा काम तो कर ही देगा और साथ में मैं जो भी चाहूँगा वही करेगा।"

महात्माजी उस किसान को ऐसी कोई शक्ति प्रदान नहीं करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कहा—"नहीं, नहीं, तुम इसका परिणाम नहीं जानते। यदि मैं तुम्हें प्रेत दे दूँ तो तुम बड़े ही संकट में पड़ जाओगे। तुम अपने काम से ही संतोष रखो और किसी प्रेत-भूत के फेर में मत पड़ो।"

किन्तु उस किसान पर महात्माजी की सीख का कोई परिणाम नहीं पड़ा। उसने फिर अपनी प्रार्थना दुहराई—"नहीं, महाराज! आप मुझे एक प्रेत दे ही दीजिए। वह मेरा सब काम करेगा और मेरी पूरी सेवा भी करेगा।"

महात्माजी ने फिर समझाया—"देखो बेटा, तुम नहीं जानते कि तुम कैसी भयानक वस्तु की कामना कर रहे हो। यदि तुम्हें कोई प्रेत मिल भी जाए तो तुम्हें उसको दिन-रात काम में लगाए रखना पड़ेगा, नहीं तो वह तुम्हें ही मार डालेगा"

किन्तु बेचारा किसान अपने काम से इतना परेशान हो गया था कि उसने अपनी जिद नहीं छोड़ी—"महाराज, मैं आपके पास से एक भूत लेकर ही जाऊँगा। मैं उसे रात-दिन काम में लगाये रखूँगा। महाराज, अबकी बार मेरी प्रार्थना स्वीकार कर एक भूत दे दीजिए। मैं फिर आपको किसी बात के लिए परेशान नहीं करूँगा।"

महात्माजी ने देखा कि अब उनका समझाना व्यर्थ है। किसान की जिद के आगे उनकी कुछ न चली। उन्होंने कुछ

सोचकर कहा—"अच्छी बात है। मैं तुम्हें एक मंत्र बताए देता हूँ। जब तुम इसे एक सौ आठ बार पढ़ोगे तो प्रेत तुम्हारे पास आ जाएगा। किन्तु याद रखना कि वह ऐसा भयानक जीव है कि उसके मन में मनुष्यों के लिए तनिक भी दया नहीं है। यदि तुमने उसे लगातार काम में लगाए न रखा तो वह तुम्हें मार डालेगा। किसान ने कहा—"यह तो बड़ा सरल काम है। मैं तो उसे जीवन भर तक काम दे सकता हूँ"। महात्माजी ने कहा—"वाह! तुम तो बिलकुल निश्चिन्त दीखते हो। पर यदि तुमपर कभी विपत्ति आए तो तुम मेरा स्मरण कर लेना। मुझे ऐसा लगता है कि तुम शीघ्र ही यहाँ फिर आनेवाले हो।"

किसान प्रसन्न होकर अपने गाँव की ओर चला। अपनी झोपड़ी में पहुँचकर वह एक पीढ़े में बैठ गया और बड़ी देर तक मंत्र का पाठ करता रहा। इतने में उसने देखा कि एक बड़ा डरावना प्राणी उसके सामने खड़ा है और उसका आँखों से आग की चिनगारियाँ निकल रही हैं। उसने कहा—"मैं तुम्हारी सेवा करने के लिए भेजा गया हूँ। यदि तुम मुझे नौकर बनाओगे तो मैं तुम जो कहोगे वह करूँगा। किन्तु तुम मेरी चेतावनी सुन लो। मैं एक क्षण के लिए भी बिना काम के नहीं बैठ सकता और तुम्हें मुझको लगातार काम में लगाए रखना होगा। यदि तुम मुझे काम न दे सके तो मैं तुम्हें खा जाऊँगा।" प्रेत को देखते ही किसान के दिल की धड़कन बन्द होने लगी थी। किन्तु ऐसे शक्तिशाली सेवक को पाकर वह प्रसन्न होने का प्रयत्न करने लगा

उसने कहा—"हाँ, मैं जानता हूँ। तुम मेरे सेवक हो और मैं तुम्हें हमेशा काम में लगाए रखूँगा। मैं सबेरे से नौ मील चला हूँ। मैं बहुत थक गया हूँ। इसलिए तुम जाओ और मेरे भोजन का प्रबन्ध करो।"

किसान सोचता था कि बेचारा प्रेत पहले पकाने की सामग्री ढूँढ़ेगा, फिर बर्तन जुटाएगा, आग जलाएगा और तब कहीं भोजन पकाना शुरू करेगा। उसने सोचा कि भला दो घण्टे से पहले भोजन कैसे तैयार हो सकता है? किन्तु जैसे ही उसने प्रेत को आदेश दिया वैसे ही उसका भोजन तैयार हो गया। उसने देखा कि जहाँ पर वह भोजन करता था वहाँ एक बड़ा केले का पत्ता रख दिया गया है। पत्ते के एक किनारे पर बारह प्रकार के पकवान सजाकर रख दिए गए हैं। पत्ते के दूसरे किनारे पर भात मछली और माँस रखा हुआ है तथा छोटी-बड़ी कटोरियों में मछली माँस और मसूर की शोरबेदार तरकारियाँ और दाल परोसी गई हैं। किसान यह सब देखकर चकित हो गया। वह अपनी झोपड़ी के पिछवाड़े गया और हाथ-पैर धो आया। फिर उसने साफ कपड़े पहने और प्रेत के द्वारा रखी गई मखमली गद्दी में बैठकर भोजन करने लगा। जैसे ही वह भोजन समाप्त करके हाथ-मुँह धोकर बैठा था, वैसे ही एक तेज आँधी आई और उसकी झोपड़ी के छत को उड़ाकर ले गई।

अब किसान सोचने लगा कि मैं अब ऐसी झोपड़ी में कैसे रह सकता हूँ? मैं जहाँ बैठकर भोजन करता हूँ वह जगह इतनी ऊबड़-खाबड़ है कि यदि मैं बहुत सावधानी

से भोजन न करूँ तो केले का पत्ता ही फट जाए। उसने कहा "भला कोई ऐसी गन्दी जगह में अच्छा भोजन भी कर सकता है?" इसलिए उसने प्रेत को एक बड़ा मकान बनाने के लिए कहा जिसके कमरे सजे-सजाएँ हों। प्रेत को आदेश देते ही उसकी झोपड़ी चरमरा कर गिर गई। कुछ ही क्षणों में वह स्थान साफ कर दिया गया। दूसरे ही क्षण वहाँ एक बहुत बड़े मकान की नींव भी पड़ गई। तीसरे क्षण एक के बाद एक-एक मंजिलें भी खड़ी होने लगीं। किसान आश्चर्य से देखता रहा। उसके सामने एक आलीशान महल था जिसके दरवाजे और खिड़कियाँ सब बन्द थे। इतने में प्रेत आया और किसान को उसका महल दिखाने ले चला। जैसे ही किसान ने महल में पैर रखा वैसे ही उस महल के दरवाजे खुल गए और खिड़कियाँ एक के बाद एक खुलने लगीं। सबसे पहले वह अपने भोजन करने के कमरे की ओर गया। यह वही स्थान था जहाँ किसान बरसों से भोजन करता आया था पर वह इतना बदल गया था कि किसान उसे पहचान ही नहीं सका। फिर उसने दूसरे कमरों को देखना प्रारम्भ किया। अतिथियों और भेंट करने के लिए आने वालों के लिए तथा भविष्य में कर्ज लेने वाले व्यक्तियों के लिए एक लम्बा कमरा बनाया गया था। उस कमरे की छत पर पाँच विशाल दीपदान लटक रहे थे जिससे सारा कमरा जगमगा उठा था। उसके नहाने का कमरा भी काफी बड़ा था। वहाँ गरम और ठंडे पानी की दो अलग टंकियाँ बनी हुई थीं। जैसे ही वह नहाने के कमरे के अन्दर घुसा वैसेही

उसका प्रतिबिम्ब आदमकद तिकोने दर्पण पर पड़ा जिसमें उसका केवल चेहरा ही नहीं अपितु उसके शरीर का दायाँ, बायाँ और पिछला भाग भी दिखता था। पहले उसने कभी ऐसी चीजें नहीं देखी थीं। उसके पड़ोस के गाँव में जिस लखपती का मकान था वहाँ भी ऐसी अनोखी वस्तुएँ नहीं थीं।

अपने महल की पहली और दूसरी मंजिलों को अच्छी तरह देखने के बाद वह किसान नीचे उतर कर अपने विश्राम करने के कमरे में आकर बैठ गया। उसने देखा कि प्रेत बड़े अधिकार से उसके सामने आकर खड़ा हो गया है और उससे पूछ रहा है—"अब मुझे क्या करना है ? मुझे कोई काम दो। मुझे हमेशा काम करते रहना चाहिए।" वह किसान अब गरीब नहीं था। उसने कहा—"यह महल अच्छी तरह से सजा हुआ तो है पर मैंने देखा है कि एक लम्बे कमरे में कपड़े टाँगने की छः आलमारियाँ हैं। मैं चाहता हूँ कि दो आलमारियों में केवल रेशमी कपड़े और पगड़ियाँ हों, एक में केवल ऊनी कपड़े हों और बाकी तीन आलमारियों में सूती कपड़े रखे जायँ। प्रेत ने उत्तर दिया—"ऐसा ही होगा" और तीन ही क्षण में सारी आलमारियाँ कपड़ों से भर गईं।

अब किसान अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर अपने विश्राम के कमरे में लौटा। वहाँ प्रेत फिर खड़ा हुआ था। उसने पूछा—"अब क्या आज्ञा है ? मुझे शीघ्र आदेश दो।" एक क्षण के लिए किसान चकरा गया, फिर बोला—"मेरे लिए एक नगर बसा दो।" प्रेत ने उत्तर दिया—'यही होगा।"

कमरे के बाहर आते ही उसने देखा कि उसके महल के सामने एक सुनियोजित नगर का निर्माण हो रहा है। उसमें गगनचुम्बी अटारियाँ और आलीशान महल हैं। थोड़ी ही देर में पूरी की पूरी नगरी बस गई। प्रेत ने फिर पूछा—"अब मैं क्या करूँ ?" किसान सोचने लग गया कि अब इसे क्या करने के लिए कहा जाय। प्रेत ने फिर दुहराया—"जल्दी मुझे काम बताओ अन्यथा इसका फल तो तुम जानते ही हो।"

अब धनवान किसान के हृदय की धड़कन बढ़ गई। उसका दिमाग खाली हो गया। पर प्रेत आदेश की प्रतीक्षा में हाथ बाँधे सामने खड़ा था। किसान ने उसे जो भी काम बताया, उसे उसने एक ही क्षण में पूरा कर दिया। वह भय से काँप उठा। उसने सोचा कि "मुझे शीघ्र ही महात्माजी के पास जाना चाहिए और इस प्रेत से छुटकारा पाना चाहिए।" वह जान हथेली में लेकर महात्माजी के पास दौड़ा और जाकर उनके चरणों में गिर गया। उसने हाँफते हुए कहा—"महाराज! उस प्रेत ने तो सारा काम पलक मारते ही कर दिया। अब मेरे पास कोई काम नहीं रह गया। वह मेरे पीछे दौड़ रहा है और वह अब मुझे अवश्य ही खा जाएगा। आप मुझ पर दया कीजिए महाराज, और मुझे बचा लीजिए।" महात्मा जी ने कहा—"जब प्रेत ने काम करना शुरू कर दिया है तब तो उससे छुटकारा पाना मुश्किल है। तुम्हें तो उसको काम में लगाए ही रखना होगा।" किसान ने घिघियाते हुए प्रार्थना की, "मुझे बचा

लीजिए, महाराज ! वह प्रेत मेरे पीछे ही आ रहा है। वह मुझे खा जाएगा।" महात्माजी ने कहा—"अच्छा, यह छुरी लो और शीघ्र ही उस कुत्ते की पूँछ काट लाओ।" यद्यपि किसान यह सुनकर चकित हो गया था पर उसने उस कुत्ते की पूँछ काट ली। इतने में ही वह प्रेत आ धमका और गरजते हुए किसान से कहा—'मेरे पास कोई काम नहीं है। मुझे जल्दी कोई काम दो अन्यथा मैं तुमको खा जाऊँगा।" महात्माजी ने किसान से कहा, "अच्छा, अब तुम कुत्ते की टेढ़ी पूँछ को इस प्रेत को देकर उसे सीधा करने के लिए कहो।" तब किसान ने प्रेत से कहा—"अच्छा यह पूँछ लो और इसे सीधा कर दो।" प्रेत बोला—'वाह ! यह तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है।" उसने कुत्ते की पूँछ को दोनों सिरों से पकड़कर खींचा, किन्तु जैसे ही उसने उसे छोड़ा वैसे ही वह फिरसे टेढ़ी हो गई। उसने फिर बड़ी सावधानी से उसे सीधा करने का प्रयत्न किया। किन्तु वह जब तक कुत्ते की पूँछ को दोनों सिरे से पकड़े रहता था तभी तक वह सीधी रहती थी।

अब प्रेत पसीने पसीने हो गया। उसने देखा कि यह कार्य तो कभी समाप्त नहीं होनेवाला है। उसका सारा क्रोध समाप्त हो गया और वह अपने स्वामी से गिड़गिड़ाते हुए विनती करने लगा—"मुझपर कृपा कीजिए और मुझे छोड़ दीजिए। आपने मुझे ऐसा कठिन कार्य दिया है जिसे मैं कभी पूरा नहीं कर सकता। जैसे ही मैं पूँछ को सीधा करके जमीन पर रखता हूँ वैसे ही वह फिर टेढ़ी हो जाती है।

आप मुझे दया करके छोड़ दीजिए। मैं वचन देता हूँ कि मैं आपको फिर कभी परेशान नहीं करूँगा। मैंने आपके लिए जितना सामान जुटाया है उसे आप ही रख सकते हैं।" यह सुनकर किसान बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने प्रेत को मुक्त कर दिया और महात्माजी के चरणों पर गिर पड़ा।

जगत् की समस्याओं को सबके संतोष के अनुरूप नहीं सुलझाया जा सकता। इस प्रकार के प्रयत्न की व्यर्थता बताने के लिए ही यह कहानी कही गई है। बुद्ध और ईसा के समान शक्तिशाली गुरूओं के कार्यों से जगत् में जो भी सुधार दिखता है वह उनके जीवन काल तक ही रहता है। उनके पश्चात् यह संसार कुत्ते की टेढ़ी पूँछ के समान पहले जैसा ही हो जाता है।

—'वेदान्त फार ईस्ट एंड वेस्ट' से साभार।

# श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व

श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मिशन ।

उपनिषदों में सत्य, शिव और सुन्दर के जो स्पन्दन हैं, वे परवर्ती काल में एक ऐसे प्रचण्ड व्यक्तित्व के आधार में आबद्ध होकर घनीभूत हो गये जिसने ईसा पूर्व लगभग ३००० वर्ष पहले अपने जीवनकाल में, आध्यात्मिक और राजनैतिक रूप से समूचे भारतवर्ष को हिला दिया था। उसकी आवाज आज भी हमें हिला रही है। गीतागायक श्रीकृष्ण ने भारत के जीवन और चिन्तन पर इतना गहरा प्रभाव डाला है, जिसकी तुलना भारत में अथवा अन्यत्र नहीं है। उनका यह प्रभाव तीव्र भी है और विस्तीर्ण भी। यदि हम भारत की धरोहर से कृष्ण को निकाल लें, तो वह मात्र सामान्य-सी रह जायगी। हमारे धर्म और दर्शन में, अध्यात्म और कविता में, शिल्प और चित्रकारी में, संगीत और नृत्य में — जो भी सभ्यता और संस्कृति में उन्नत जनजीवन की विविधता से सम्बन्ध रखता है, उस सबमें कृष्ण का प्रवेश हो चुका है। उनके व्यक्तित्व में सब प्रकार के एवं सभी स्तरों के लोगों के लिए एक मोहकता है। वे भारतीय हृदय और मस्तिष्क के लिए अजस्र आकर्षण-स्रोत बने हुए हैं — हमारे बालक और बालिकाओं, हमारे साधुओं और सन्तों, बुद्धिवादियों और कलाकारों, राजनयिकों और नीतिज्ञों सभी को वे अपनी ओर खींचते रहे हैं। परवर्ती

काल की कृति भागवत पुराण ने तो युग-युग के इस महान् आश्चर्य को यह कहकर अभिव्यक्त किया है कि—

'एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्',

—अर्थात् अन्य अवतार तो मानो भगवान् के अंश है जबकि कृष्ण साक्षात् भगवान् ही हैं। हम कृष्ण के इस सम्मोहन का, एक समूची जनता के स्नेह और विश्वास के केन्द्रीकरण का कारण ढूँढने और कहाँ जायेंगे ? वह तो उस व्यक्ति के, उसकी जनता के आचरण में निहित है।

महाभारत और भागवत से मोटे तौर पर श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जो तथ्य मालूम होते हैं, उनसे पता चलता है कि वे असामान्य कोटि के जननायक और शिक्षक थे, नागरिक और सन्त थे। उनका बचपन मथुरा के निकट वन सम्पदा से परिपूर्ण ब्रज के ग्रामीण वातावरण में बीता। यद्यपि मथुरा की प्रक्षुब्ध राजनीति के कारण आसपास के गाँवों में विमर्ष और चिन्ता के बादल छाये रहते थे, तथापि कृष्ण का प्रारम्भिक बाल्यकाल माता-पिता के स्नेहपूर्ण यत्न और सरल ग्वालबालों के बीच माधुर्य और मृदुता की गाथा थी जो पग-पग पर प्रकृति और पशु-जगत् के साथ मानव के ऐक्य को प्रकट करती थी। हरिणों, मयूरों और अन्य पक्षियों से भरे पवित्र यमुना-पुलिन के सघन कुंज ब्रज बालकों के लिए ग्राम्य गीत की प्रेरणा थे, उनके व्यक्तित्व के विकास और अपने स्वातंत्र्य के प्रयोग के लिए सही अर्थों में शिक्षा-विहार थे। भागवत में वर्णित गो-सेवी, वंशीवादक, ग्रामीण सखाओं

के साथ हँसी-मसखरी करनेवाले और उनके मुखिया के रूप में साहसिक अभियानों में तत्पर किशोर कृष्ण की छवि ने परवर्ती युगों के लिए उच्चतम कोटि के गीतात्मक काव्य और आध्यात्मिक रूपक के हेतु विषय-वस्तु प्रस्तुत की है। बाल्य-काल में ही उन्होंने सजीवता और मानसिक प्रौढ़ता, शौर्य और चित्त-स्थैर्य के गुण प्रदर्शित किये। जन्म से ही उनमें सहानुभूति और समझने की क्षमता थी। हँसी और विनोद उनके जीवन के अंग थे। इन सबने मिलकर उनके व्यक्तित्व को संवेदनशील और पूर्णतः मानवी बना दिया था। उनके अधरों पर एक ऐसी मुस्कान बिखरी रहती थी जो उनकी मुखभंगी का अविच्छिन्न अंग थी। उनकी वह मुस्कान उनकी स्थिर बुद्धि और कोमल हृदय की द्योतक थी। इसी स्थिर बुद्धि और कोमल हृदय से वे मानव हृदय की घृणा और निराशा, वासनाओं और शंकाओं का सामना किया करते थे। किशोरावस्था से ही उन्हें अपने जीवन का उद्देश्य विदित था और वे यह जानते थे कि उन्हें धरती पर क्या करना है। अपने उसी ध्येय की पूर्ति के लिए उन्हें अपनी किशोरावस्था में ही जन्मभूमि व्रज के मनोरम परिवेशों तथा प्रेमोच्छलित हृदयों से विदा लेनी पड़ी। उनके जीवन का शेष भाग संघर्षों के चक्रवात में बीता—पहले तो समीप की ही मथुरा नगरी में और बाद में काठियावाड़ के समुद्रतट पर नयी बसी द्वारका-पुरी में। द्वारका में रहते समय उनके जीवन की कार्य प्रेरणा उन्हें दिल्ली ले आयी, जो उस समय भारत की राजधानी थी और इन्द्रप्रस्थ के नाम से विख्यात थी। इन्द्रप्रस्थ के

निकट ही हस्तिनापुर था। श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर आकर पाण्डवों और उनके समर्थकों की मैत्री-डोर में बँध गये और उनका शेष जीवन दिल्ली और द्वारका के बीच बीता।

गीर्वाण भारती का महाकाव्य महाभारत सर्जनात्मक और वीर-युग के भारत को प्रकाशित करता है। उसमें वर्णित वीरों का समूह हृदय के परस्पर विरोधी भावों का प्रतीक बनकर सामने आता है — कोई प्रेम का तो कोई घृणा का, कोई सज्जनता का तो कोई दुष्टता का, कोई सौम्यता का तो कोई विभीषणता का, कोई प्रशंसा का, तो कोई निन्दा का। इस समूचे समूह को अपने तेज और आकर्षण, अपनी उच्चता और प्रतिभा द्वारा अभिभूत करनेवाले एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं। ऋषि-मुनि उनकी श्रद्धा करते हैं, लोगों के वे स्नेहभाजन हैं, दुष्टों के लिए कालस्वरूप हैं और सज्जनों के गन्तव्य हैं। जन साधारण और नारियों के कल्याण की आतुरता से उनका हृदय भरा है। सम्माननीय जनों को वे यथोचित सम्मान देने से नहीं चूकते। महाभारतकार ने कृष्ण का चित्रण एक ऐसे विरल वीर के रूप में किया है जो मानवी है, साथ ही दैवी भी। एक ओर उनका जीवन अविराम कर्म का समुज्ज्वल प्रतीक है तो दूसरी ओर सम्पूर्ण निर्लिप्तता का; और ऐसा सुदीर्घ जीवन लेकर वे तत्कालीन भारत के मानस और रूप को गढ़ने में व्यस्त हैं। जब कभी वे भारत की राजधानी इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर में आगमन करते हैं, वहाँ की जनता उनका राष्ट्रीय स्वागत करने को उमड़ पड़ती है।

उनके जीवन का सबसे सक्रिय और फलप्रद भाग उस युग के राजनीतिक नेताओं और आध्यात्मिक दिग्गजों के सम्पर्क में दिल्ली और उसके आसपास के स्थानों में बीता। दीन स्त्री और पुरुष भी उनके संग-लाभ से वंचित न रहे। कौरवों का विरोध करते हुए उन्होंने पाण्डवों का धर्मयुक्त पक्ष लिया और इस प्रकार वे तत्कालीन राष्ट्रीय राजनीति में खिंच गये। वहाँ उनकी भूमिकाएँ बड़े ही महत्त्व की रहीं। कभी वे सलाहकार बने तो कभी राजदूत; पर हरदम वे दीन-हीन, सदाचारी और धर्मपरायण व्यक्तियों के मित्र बने रहे। उनके राजनीतिक जीवन का अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य तो वह रहा, जब वे कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन के निहत्था सारथि बने और शोकमग्न अर्जुन के माध्यम से संसार को गीता के ज्ञान की अमर वसीयत दी। अर्जुन की बुद्धि और हृदय को स्थिर करने के लिए भगवद्गीता का गायन कर पार्थसारथि श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व हृदयग्राही और अमर हो गया है। तब से वह व्यक्तित्व और वह गीत जीवन की बृहत्तर युद्धभूमि में लक्ष लक्ष नर और नारियों के लिए 'सारथी' और कर्म की प्रेरणा बने हुए हैं।

भगवद्गीता एक ऐसा जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है जो उसके शिक्षक और उपदेष्टा की अनुभूत धारणाओं से निर्मित है। वह एक ऐसा दर्शन है जो जीवन के प्रति मनुष्य के उत्साह को बिना न्यून किये उसे ज्ञान की शिक्षा देता है। वह मनुष्य को उच्चतम स्थिति में अवस्थान करने तथा यथाशक्ति कार्य करने में सक्षम बनाता है। साधारण जीवन में, हमारा

उत्साह हमारी स्वार्थपूर्ण आसक्तियों का फल होता है, हमारे कार्यकलाप हमारी चंचलता से निकले होते हैं, और हमारा प्रेम हमारी वासना और आत्मप्रीति से उपजा होता है। जब जीवन हमारे स्वार्थ की पूर्ति नहीं कर पाता, तो उसके प्रति हमारा उत्साह क्षीण होने लगता है, हमारे प्रेम के विषय हमसे दूर होने लगते हैं, हमारी कार्य प्रेरणा का स्रोत सूखने लगता है और हम ऐसी मानसिक जड़ता को प्राप्त हो जाते हैं जिसमें बाहर तो निष्क्रियता रहती है पर भीतर चांचल्य भरा रहता है। श्रीकृष्ण अपने जीवन और उपदेश के माध्यम से हमें बताते हैं कि हम बिना आसक्त हुए उत्साही बन सकते हैं और बिना चंचल हुए सक्रिय। हम सर्वोत्तम रूप से कार्य तब करते हैं जब हम स्वार्थी भावनाओं और वासनाओं से मुक्त होते हैं। यही सच्ची आध्यात्मिकता है, नैतिकता का अन्तिम लक्ष्य है, शिवत्व और कार्यकरत्व की प्राप्ति है तथा निर्मल बुद्धि, स्थिर हृदय और दृढ़ कर्तृत्व का सुन्दर मेल है। वह ऐसे चरित्र का प्रतीक है जिसमें शक्ति के साथ मृदुता है, निर्भीकता के साथ प्रेम और महानता के साथ विनम्रता। गीता के उपदेशक ने जो कुछ अपने जीवन और अपनी क्रियाओं में कर दिखाया उसी का आख्यान गीता शब्दों में करती है।

श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की इसी सम्पन्नता और विविधता ने उसे केवल शान्त दर्शन और धीर इतिहास का ही नहीं बल्कि नानाविध समृद्ध पौराणिक गाथाओं और दन्तकथाओं का भी केन्द्र बना दिया है। ऐसे वीर जो देश की

कल्पना शक्ति को मथ देते हैं, केवल ऐतिहासिक व्यक्ति मात्र नहीं रह जाते बल्कि उनका व्यक्तित्व राष्ट्रीय हो जाता है। वे देश की जनता की सामूहिक चेतना के लिए मोहक विषय-वस्तु बन जाते हैं, साथ ही उनको व्यक्तिगत चेतना के लिए भी। जब कभी किसी महान् वीर के जीवन में तथ्य और इतिहास के ताने-बानों पर पौराणिक गाथाओं और दन्त-कथाओं का रंग चढ़ता है, तो हम एक अपूर्व बात देखते हैं कि उसके और उसकी प्रजा के व्यक्तित्व आपस में एक दूसरे को सम्पन्न बनाकर समुन्नत करते हैं।

पुराण और इतिहास में वर्णित कृष्ण का यही सम्मोहन है। उनके व्यक्तित्व और उनके अनुगतों में विषय-वस्तु का ऐक्य है। भारतीय जनों की हर आध्यात्मिक और लौकिक आकांक्षा इस महान् व्यक्तित्व की बहुमुखी जीवन-प्रतिभा और उपदेशों में प्रतिध्वनित हुई है। हम प्राचीन यूनान एवं मध्यपूर्वी देशों के इतिहास में उनके शक्तिपूर्ण घोष की गूँज सुन सकते हैं, उनके विशाल व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। इस प्रकार की खोज भले ही रुचिकर है, पर कृष्ण को भारत और उसके निवासियों की प्राणमय परम्परा में खोजना अधिक शिक्षाप्रद और लाभप्रद होगा। श्रीकृष्ण हमारे लिए केवल ऐतिहासिक स्मृति मात्र नहीं हैं, वे जीते-जागते सत्य हैं जिनका रव और रूप समय की गति के साथ अधिक शक्तिसम्पन्न और उज्ज्वल होता आया है। भारत ने उनके माध्यम से एक ओर अपनी परम्पराओं के क्षेत्र में जहाँ शास्त्रीय और स्वच्छन्द शैलियों में ऐक्य की प्राप्ति की

है, वहीं दूसरी ओर अपनी आकांक्षाओं में दार्शनिक और धार्मिक का एकत्व पाया है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन जगत् के बहुत ही कम देश के लोग —भले वे यूनानी हों या रोमन, फ्रेंच अथवा जर्मन—आध्यात्मिक एकत्व की इस ऊँचाई तक पहुँच पाये हैं। उन सभी देशों में शास्त्रीय और स्वच्छन्द शैलियों का, दर्शन और धर्म का परस्पर झगड़ा होता आया है। कभी कभी तो यह विवाद उग्र रूप धारण कर लेता है, पर वह हरदम अदृश्य रूप से होता है। श्रीकृष्ण से ही भारत के यथार्थ राष्ट्रीय मानस का विकास प्रारम्भ होता है। उन्होंने भारत के लिए जिस ऐक्य का स्थापन किया, उससे भारत अपने साथ शान्ति का अनुभव करता है और आगे चलकर भगवान् बुद्ध और उनके धर्म ंघ ने जिस बृहत्तर समन्वय की स्थापना की, उससे वह संसार के साथ शान्ति की अनुभूति करता है। यही समन्वय भारतीय मानस का प्रधान स्वर है और श्रीकृष्ण उसके प्रथम प्रेरक हैं।

—आकाशवाणी, दिल्ली पर १७ मार्च १९५०
को दिया गया अँगरेजी भाषण।

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा शास्त्र का विचार करनेवाले, ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं। पंडित तो वही है जो अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है।

— महाभारत, वनपर्व। ३१३।११०

# पुनर्जन्म

रायसाहब हीरालाल वर्मा

भारत के धार्मिक ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप का जितना अच्छा विवेचन किया गया है, उतना शायद और किसी विदेशी धर्म-पुस्तक में नहीं है। कठोपनिषद् (१।२।१८) में बतलाया गया है कि मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, यह न तो किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है, और न कुछ स्वतः ही बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरता। (२।२।७) अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर-धारण करने के लिये किसी योनि को प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

मुण्डकोपनिषद् (३.२।२) में कहा है कि भोगों के गुणों का चिन्तन करने वाला जो पुरुष भोगों की इच्छा करता है, वह उन कामनाओं के योग से जहाँ-तहाँ उत्पन्न होता रहता है। परन्तु जिसकी कामनाएँ पूर्ण हो गई हैं, उस कृतकृत्य पुरुष की सभी कामनाएँ इस लोक में ही लीन हो जाती हैं।

प्रश्नोपनिषद् (३।३।७) की सम्मति में जीव को उदान-वायु पुण्य कर्म के द्वारा पुण्यलोक को और पाप कर्म के द्वारा पापमय लोक को ले जाती है, तथा मिश्रित कर्मों द्वारा उसे मनुष्य लोक को प्राप्त कराती है।

इसी उपनिषद् के एक (३।३।१०) मंत्र में बतलाया गया है कि मरणकाल में जीव का जैसा संकल्प होता है,

उसके सहित वह फिर प्राण को प्राप्त होता है, तथा प्राण तेज से संयुक्त होकर उस भोक्ता को, आत्मा के सहित, संकल्प किये हुए लोक को ले जाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ( १।६ ) में कहा है कि जीव अपने को और सर्वनियन्ता परमात्मा को अलग अलग मानकर, इन समस्त भूतों की योग भूमि और प्रलयस्थान के महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमण करता रहता है।

इसी उपनिषद् के ५।११ और १२ में बतलाया गया है कि जैसे अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि होती है, वैसे ही संकल्प, स्पर्श दर्शन और मोह से कर्म होते हैं और यह देह ही क्रमशः विभिन्न योनियों में जाकर, उन कर्मों के अनुसार रूप धारण करती है। जीव अपने गुणों ( पाप-पुण्यों ) के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म बहुत सी देहें धारण करता है। फिर उन शरीरों के कर्मफल और मानसिक संस्कारों के द्वारा उनके संयोग का दूसरा हेतु भी देखा गया है।

छान्दोग्योपनिषद् ( ४।१५ ) में समझाया गया है कि जब ब्रह्मविद् ज्ञानी मरता है, तो वह ब्रह्मलोक जाकर इस मृत्यु लोक में नहीं लौटता।

इसी तरह योगवासिष्ठ ५।७१।६५, ६७, ६८ में कहा है कि मरने के बाद जीव अपनी वासनाओं के आधार पर दूसरे देश और काल में दूसरी सृष्टि का अनुभव करने लगता है और वासनाओं के कारण ही इधर-उधर घूमता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भली भाँति अपनाया गया है। देखिये (६।४५) व (८।१६) में जीव

का अनेक जन्म लेना बतलाया गया है और इस सांसारिक चक्र से बचने के जो उपाय बतलाये गये हैं वे ये हैं :—

२।५१—कर्मों से उत्पन्न होने वाले फलों का त्याग करना।

२।६—प्रभु के निमित्त अर्पण करे ताकि अन्य कर्मों द्वारा अन्य बन्धन में न आ सके।

४।२२—समत्वभाव वाला पुरुष कर्मों को करके भी नहीं बँधता।

५।१२—निष्काम कर्मयोगी शान्ति को प्राप्त होता है और सकामी पुरुष बँधता है।

६।४०—भगवान् के लिए कर्म करनेवाले का न इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है।

८।५—जो पुरुष अन्तकाल में प्रभुका स्मरण करते हुए शरीर को त्यागता है, वह प्रभु के शरीर को पाता है।

८।२५—सकामी पुरुष स्वर्ग में अपने शुभ कर्मों का फल भोगकर फिर इस कर्म भूमि में वापिस आता है।

१४।१४,१५,१८,१६—जब जीवात्मा सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तो दिव्य स्वर्गादि लोकों को जाता है; रजोगुणी को मूढ़ योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है और तमोगुणी को नीच योनियों की श्रेणी-जैसे कीट, पशु आदि मिलती है। और ज्ञानी जो परमात्मा के तत्त्व को पहचान लेता है, स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है; इत्यादि।

इसी सिद्धान्त को श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के ३२ वें अध्याय में इस तरह समझाया गया है कि—"जो धीर व्यक्ति अपने धर्मों को अर्थ और काम पाने की इच्छा न

करके नहीं दुहते, जो अनासक्त होकर अपने सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर को अर्पित कर देते हैं, सात्त्विक धर्मों के आचरण से अन्तःकरण को निर्मलकर लेते हैं, वे सूर्यमण्डल होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और महाप्रलय होने पर ब्रह्मा के साथ परमानन्दरूप पुराणपुरुष ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। विगताभिमान न होने के कारण ये योगी एकदम ब्रह्ममय नहीं होते। सात्त्विक भाव से उपासना करने वाले, जो अहंकार का त्याग नहीं करते और जो स्वर्गादि की भावना से यज्ञादि कर्म करते हैं, उनके पुनर्जन्म लेने में कोई संशय नहीं। कामनायुक्तकर्म करनेवाले लोग मरण के उपरान्त सूर्य के दक्षिण मार्ग से पितृलोक को जाते हैं, और पुण्य के क्षीण होने पर वहाँ से आकर अपने अपने वंश में जन्म ग्रहण करते हैं। अविद्याकृत कर्मों के करनेवाले जीव की अनेक गतियाँ होती हैं।"

सारांश यह कि हिन्दू सनातनधर्म का विशाल भवन पुनर्जन्म और कर्म-स्वातन्त्र्य की नींव पर ही बाँधा गया है और उसमें यह भी विशेषता है कि इस देह के नष्ट होने के पहिले भी, ब्रह्मनिष्ठ होने पर, मनुष्य "जीवनमुक्त" हो सकता है। ज्ञान से मुक्ति का होना ही हिन्दू दर्शन का अटल सिद्धान्त है। अविद्या से इस जगत् के सब दुखों और बन्धनों का होना बतलाया गया है और असली सुख आवागमन के चक्र से छुटकारा पाने में ही है। परन्तु इस देश में कुछ ऐसे भी मत हुए हैं या हैं, जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं और विषयसुख में ही जीवन का ध्येय देखते

हैं। चार्वाक मत के अनुसार यह शरीर पंचमहाभूतों के सम्मिश्रण से बनता है, और जैसे जिन द्रव्यों से मदिरा बनती है, उनमें स्वयं मादक शक्ति नहीं होती परन्तु उनके परस्पर संयोग से यह शक्ति पैदा हो जाती है, उसी तरह शरीर बनने पर चेतनता अपने आप आ जाती है और उसी का नाम आत्मा है। शरीर के न रहने पर आत्मा भी नहीं रहती। इसलिए उनके जीवन का लक्ष्य है, 'अर्थ और काम' क्योंकि जब जीव का पुनरागमन होता ही नहीं तो फिर इस जीवन में ही खूब मजे क्यों न उड़ाये जायँ? उनका सिद्धान्त है:—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ (चा० दर्शन)

इसी तरह, जिन धर्मों में आत्मा को अनादि और अनन्त नहीं माना है, उनमें भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान्य नहीं। लेकिन विज्ञान की नई नई खोजों के कारण अब पश्चिमी देशों में भी पुनरागमन की यथार्थता मानी जा रही है। पहिले तो डार्विन के विकासवाद ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जीव छोटी श्रेणी से बढ़ता हुआ मनुष्यरूप धारण करता है, वह प्रभु की फूँक से आकस्मिक रूप से उत्पन्न नहीं हो जाता। फिर कुछ मानसिक तत्त्ववेत्ताओं ने यह भी निश्चय किया है कि उचित अभ्यास के बाद मन की प्रगति ऐसी बनाई जा सकती है कि वह शरीर के बन्धन से बाहर निकलकर भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्व ढूँढ़ निकालता है। इसके सिवा, यदि जीवों में उनके कर्मानुसार गुणों अथवा लक्षणों की न्यूनाधिकता न हो, तो जंगली

कौमों का कभी उद्धार ही न हो सके। यदि पुनर्जन्म न माना जाय, तो मनुष्यों में जो जन्म समय से ही हर प्रकार की पृथकता होती है, उसका संतोषजनक कोई दूसरा उत्तर ही नहीं मिलता। वंश-परम्परा का सिद्धान्त इस बात को नहीं समझा सकता कि कैसे किसी मूर्ख घराने में कभी ऐसे व्यक्ति पैदा हो जाते हैं, जो अपने अनोखे बुद्धि-बल से संसार को अचम्भे में डाल देते हैं। यदि यह कहें कि पुनर्जन्म होता है, तो उसकी स्मृति क्यों नहीं रहती? तो इसका उत्तर यह दिया जाता है कि मन का सम्बन्ध शरीर से रहता है, और इसी कारण बाल-शरीर का जब बुढ़ापे में रूपान्तर हो जाता है, तब बचपन की स्मृतियाँ खो जाती हैं। इसी तरह जब जीव सूक्ष्म शरीर-मन के सहित दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है, तो उसकी स्मरण-शक्ति नए शरीर के विकार के कारण बदल जाती है। इसी प्रकार के और भी विचार आजकल के वैज्ञानिक पुनर्जन्म की सिद्धि में प्रकट करते हैं। हिन्दुओं के तो रक्त ही में इस सिद्धान्त की धारा बहती रहती है। तुलसीदास के रामचरित मानस में इस सिद्धान्त को जगह जगह अपनाया है—

> करम प्रधान विश्व करि राखा।
> जो जस करइ सो तस फल चाखा॥
> आकर चारि लच्छ चौरासी।
> जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥

इस 'चौरासी' से बचने के अनेक उपाय हिन्दू शास्त्रों में बतलाए हैं और उससे मुक्त होने का ही नाम मोक्ष है।

———

# सत्यनिष्ठ सुकरात

श्री रामेश्वर नन्द

सत्य का पथ बहुत कठिन होता है तथा बिरले ही इसका निर्वाह कर सकते हैं। किन्तु जो सत्य के पथ पर चला करते हैं उनका जीवन छल, प्रपंच तथा अन्य आडम्बरों से सर्वथा रहित होता है। उनका जीवन-पथ सत्य के आलोक से ही प्रकाशित हो जाता है तथा उन्हें अन्य किसी आलोक अथवा आधार की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें सत्य का आलोक नहीं भाता। जिसप्रकार उलूक सूर्य के प्रकाश को सहन नहीं कर सकता उसीप्रकार कुछ व्यक्तियों की आँखें सत्य-सूर्य के आलोक से चौंधिया जाती हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे लोग मिथ्या और चाटुकारिता में पले रहते हैं, उन्हें आत्मप्रशंसा की क्षुधा सदैव व्याकुल किए रहती है और उनका जीवन अज्ञान और अहंकार के अंधकार से घिरा रहता है। ऐसे व्यक्ति सत्य के पुजारियों से घृणा करते हैं तथा उन्हें अपना शत्रु समझकर उन्हें समूल नष्ट कर देना चाहते हैं। किन्तु ये मिथ्याचारी व्यक्ति अपनी ही द्वेषाग्नि में जलकर राख हो जाते हैं और : नके प्रतिकारों की अग्नि में तपकर सत्यार्थी व्यक्तियों का जीवन कंचन के समान खरा हो जाता है।

सुकरात ( socrates ) एक ऐसे ही सत्यार्थी महापुरुष थे। वे ग्रीस की सुप्रसिद्ध नगरी तथा विद्या और ज्ञान के

प्रमुख केन्द्र एथेन्स में ईसा से ४६९ वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे। तत्कालीन एथेन्स ग्रीस की तक्षशिला थी। यह वह पुण्य भूमि थी जिसमें एक से एक महापुरुषों ने जन्म ग्रहण कर उसे गौरवान्वित किया था।

सुकरात ने क्रान्तिकारी शिक्षा-प्रणाली का प्रवर्तन किया था। उनके उपदेश इतने स्पष्ट, तर्कसंगत एवं आकर्षक थे कि एथेन्स का नवयुवक-वर्ग उनकी शिष्यता स्वीकार करने के लिए लालायित हो उठा था। वे जहाँ भी रहते थे उनके समीप आधुनिक दृष्टिकोण से युक्त, परम्परा-विरोधी और सत्यान्वेषी जिज्ञासुओं की भीड़ लगी रहती थी। वे पतनोन्मुखी परम्पराओं, अंधविश्वासों और सड़ी-गली रूढ़ियों के घोर विरोधी थे। वे महान् स्पष्टवादी भी थे इसलिए उन्हें मूर्ख को मूर्ख कह देने में तनिक भी संकोच नहीं होता था। यही कारण था कि वे एक ओर तो सत्य की आराधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गए थे किन्तु दूसरी ओर उनकी सत्यवादिता से त्रस्त शत्रुओं की संख्या भी बड़ी तीव्रता से बढ़ती जा रही थी। किन्तु वे इससे तनिक भी भयभीत नहीं हुए। उनका कथन था कि, "मुझे एक बार तो क्या कई बार भी मरना क्यों न पड़े किन्तु मैं अपने जीवन के दृष्टिकोण को अथवा सत्य के प्रचार को नहीं छोड़ सकता।" सत्यनिष्ठ पुरुषों का जीवन बड़ा दुःखद एवं अन्याय पूर्ण होता है। ईसा और जरथुस्त्र के समान सुकरात को भी मृत्युदण्ड मिला क्योंकि उनकी सत्यवादिता से अनेक लोगों की स्वार्थ-सिद्धि में बाधा उत्पन्न हो गई थी।

सुकरात का पार्थिव शरीर तो उसी दिन भस्मसात् हो गया था किन्तु उनके शब्द चिरकाल के लिए शाश्वत हो गये। शरीर की सीमाओं में आबद्ध उनका बीज रूपी ज्ञान उनकी मृत्यु के पश्चात् ज्ञान का विशाल वटवृक्ष बनकर फैल गया।

सुकरात की शिक्षा को समझने के पहले हमें उनके जीवन और व्यक्तित्व से परिचित हो जाना चहिए। उनके पिता का नाम सोफ्रोनिसकस और माता का नाम फिनारिटे था। उनके पिता शिल्पी थे तथा उनकी माता प्रसूतिका का कार्य करती थीं। सुकरात की शिक्षा-दीक्षा तथा उनके शैशवकालीन जीवन के सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध नहीं है। विविध स्रोतों से सुकरात के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञात होता है वह उनकी चालीस वर्ष की आयु के उपरान्त की घटनाओं से सम्बद्ध है। उनका जीवन - वृत्तान्त पोटोडिया के युद्धस्थल से प्रारम्भ होता है जहाँ हम सत्य के इस अनन्य पुजारी को योद्धा के रूप में देखते हैं। उनका जन्म एक ऐसी शताब्दी में हुआ था जिसमें अनेक अन्य विद्वानों का साहचर्य उपलब्ध हो सका था। महान् दार्शनिक प्रतिभावान कवि और त्रासदीकार सोफोक्लेस तथा एडरिपिदेस ( यूरीपाइडीज़ ) इसी शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। इसीप्रकार सुप्रसिद्ध मूर्तिकार फिडियास ( जिनकी कलाकृतियाँ आज भी ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित हैं ) और सु विख्यात राजनीतिज्ञ पेरिक्लेस आदि इसी शताब्दी के व्यक्ति थे। फलतः एथेन्स इस शताब्दी में शिक्षा, सभ्यता एवं संस्कृति की श्रीवृद्धि से मण्डित हो गई थी।

तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के अनुसार सुकरात को बाल्य-काल में संगीत एवं व्यायाम की शिक्षा दी गई थी। उन्हें रेखागणित, ज्योतिष और साहित्य का भी सामान्य ज्ञान था। वे हमेशा कवि होमर की रचनाओं के बड़े प्रासंगिक उद्धरण दिया करते थे। इससे यह पता चलता है कि उन्हें कविता से विशेष प्रेम था तथा उन्होंने तत्कालीन साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। सैनिक के रूप में भी वे अद्वितीय थे। अन्तिम क्षण तक युद्धस्थल में डटे रहना उनका सिद्धान्त था। वे बड़ी आसानी से भूख-प्यास, वर्षा, शीत और ताप जैसे दैहिक कष्टों को सह लेते थे। उनकी सहन-शीलता और शौर्य की अनेक प्रसिद्ध घटनाएँ हैं। इन्हीं गुणों की प्रशंसा करते हुए उनके शिष्य प्लेटो ने उनसे कहा था—"मैंने पेरिक्लेस तथा अन्य अच्छे वक्ताओं को सुना है और उनकी चर्चाओं से मैं आनन्दित भी हुआ हूँ किन्तु मुझे आपके भाषणों को सुनकर जैसी अनुभूति होती है वैसी अनुभूति कभी नहीं हुई।" उनके संस्मरण के रूप में प्लेटो ने लिखा है, "किसी समय हम एक ही साथ सैनिक थे तथा पोटीडिया के युद्धक्षेत्र में साथ-साथ भोजन किया करते थे। उन्होंने दुर्बलताओं को जीत लिया था। फलतः उन्होंने न केवल मेरे मन को अपितु वहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति के मन को जीत लिया था। शिविरों में जब कभी भोजन की कमी हो जाती थी तब सुकरात के समान क्षुधा को सहने वाला वहाँ कोई नहीं था। और, जब भोजन प्रचुर मात्रा में रहता था तब उनकी तरह सैनिक जीवन का आनन्द उठाना भी वहाँ

किसी को नहीं आता था। वे कभी भी स्वेच्छा से मद्यपान नहीं करते थे किन्तु जब उन्हें बाध्य किया जाता तब वे अभ्यस्त मद्यपों को भी पराजित कर देते थे। आश्चर्य की बात यह थी कि किसीने उन्हें कभी भी नशे में नहीं देखा। कड़कड़ाती हुई ठण्ड की रातों की कठिनाइयों को वे चुपचाप सह लिया करते थे। जब बड़ी तीव्रता से हिमपात होता रहता, जब कोई बाहर निकलने का साहस भी नहीं कर पाता, और यदि कोई निकलता भी, तो वह फर के लबादों और गरम कपड़ों से अपने शरीर को अच्छी तरह ढाँक लेता था, ऐसे समय सुकरात अत्यन्त साधारण कपड़ों में अपने खेमे से बाहर निकलते थे। और, जब जूते पहने हुए व्यक्ति भी बर्फ में ठिठुरते हुए चला करते थे तब सुकरात बड़ी ही सरलता से नंगे पैरों बर्फ पर चल लेते थे। दूसरे सैनिक समझते थे कि सम्भवतः सुकरात उनकी सहनशीलता के अभाव की हँसी उड़ाना चाहते हैं। एक बार वे बड़े सबेरे से ही किसी विचार में ध्यानस्थ खड़े देखे गए। दोपहर बीत गया किन्तु उनका ध्यान नहीं टूटा। वे ठीक उसी प्रकार खड़े रहे। सुकरात को चिन्तन में इतना मग्न देखकर सैनिक एक-दूसरे से कहने लगे—"सुकरात प्रातःकाल से ही इसी-प्रकार ध्यानस्थ खड़े हैं।"

सुकरात और उनके पूर्ववर्ती दार्शनिकों में महान् अन्तर था। सुकरात का दृष्टिकोण मनुष्य-निर्माण या मनुष्यता की उन्नति का था। किन्तु उनके पूर्ववर्ती दार्शनिक सृष्टि और उसकी उत्पत्ति, वायु, जल, आकाश और अग्नि तत्त्वों का

ज्ञान प्राप्त करना अपना उद्देश्य समझते थे। सुकरात का जीवन और उनकी शिक्षा, सत्यान्वेषण और सद्गुण के दो मूलाधारों पर आधारित है। वे सत्य के सम्मुख मृत्यु को भी तुच्छ समझते थे। उन्होंने कहा था, "मित्रो, यदि तुम किसी ऐसे व्यक्ति को अच्छा समझते हो जो उचितानुचित के विचार को त्यागकर अपने कर्त्तव्यपालन में मृत्यु तथा अन्य आशंकाओं को स्थान देता है तो यह तुम्हारी भूल है। जब तक तुम्हारी आत्मोन्नति न हो जाय, जबतक तुम्हारी आत्मा पूर्णता प्राप्त न कर ले, तब तक मैं जीवन भर तुम्हें यही शिक्षा देता रहूँगा कि तुम धन या शरीर की चिन्ता मत करो। मैं तुम्हें सदा यही कहूँगा कि धन से सदाचार या सद्गुण प्राप्त नहीं होता अपितु सदाचार से ही वे सभी अच्छी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं जिन्हें मनुष्य प्राप्त कर सकता है।"

सुकरात ने अपने जीवन-काल में लोगों को सत्यान्वेषण और विवेक के पथ में चलने की ही सलाह दी। उनका सारा जीवन ऐसी शिक्षा प्रदान करने में बीत गया जो मनुष्य की आत्मा को उन्नत करती है। संसार के सुख को वे सर्वथा तुच्छ समझते थे और कबीर की तरह 'माया महा ठगिनि हम जानी' के सिद्धान्त पर विश्वास करते थे। उनकी शिक्षा में धन, देह और यौवनजन्य पशु-प्रवृत्तियों एवं कुवासनाओं पर विजय प्राप्त करने की सलाह भरी पड़ी है। भारतीय संन्यासी का 'जगन्मिथ्यावाद' ही उनका सिद्धान्त था। शरीर की असारता पर प्रकाश डालते हुए तथा यह बताते हुए कि

शरीर-भाव हमारी आत्मोन्नति और सत्यानुभूति के मार्ग में किसप्रकार बाधक है, उन्होंने कहा था कि "जब तक हमारा शरीर है और जब तक हमारा शरीर-भाव हमारी आत्मा के साथ मिला हुआ है तबतक हम अपनी सत्यान्वेषण की इच्छा को पूर्णतः तृप्त नहीं कर सकते। हमारा शरीर और उसकी आवश्यकताएँ निरन्तर हमारे समय का व्यय किया करती हैं। इसके सिवा जब कभी हमारे शरीर पर रोगों का आक्रमण होता है तब हमारे आत्मदर्शन के मार्ग में बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है। यह शरीर ही हमें क्रोध, वासना, भय, घृणा और अन्य प्रकार के विकारों में लिप्त करता है। अनेक कलह और युद्धों की जड़ हमारा यह शरीर और उसकी वासनाएँ ही हैं। धन का लोभ ही समस्त युद्धों का कारण है और धन का लोभ इसलिए उत्पन्न होता है कि हम अपने शरीर की सुविधाओं की पूर्ति करने की इच्छा के दास हैं। इन्हीं सब कारणों से हमें चिन्तन-मनन के लिए समय नहीं मिल पाता। यदि हम विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमें इस शरीर की दासता से छूटना होगा ताकि हमारी आत्मा वस्तुओं को उनके यथार्थ स्वरूप में देख सके।"

सुकरात की शिक्षा में आचरण की पवित्रता पर बड़ा बल दिया गया है। जिसप्रकार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसीप्रकार सुकरात भी यह मानते थे कि यदि कोई जिज्ञासु व्यक्ति अपवित्र जीवन और आचरण में लीन है तो उसे पवित्र ज्ञान अथवा आत्मानुभूति की प्राप्ति असम्भव है।

सुकरात की शिक्षा से आकर्षित होकर एथेन्स का सारा नवयुवक वर्ग उमड़ पड़ा अब सुकरात यत्र-तत्र उपदेश देते दीख पड़ते थे। उन्हें धन का लोभ नहीं था। मिथ्या और आडम्बर से वे घृणा किया करते थे। पाखण्ड के तो वे घोर शत्रु थे। फलतः एथेन्स का तथाकथित सम्भ्रान्त वर्ग, जो पाखण्ड और आडम्बर में जिया करता था, उनके हृदय की कालिमा को प्रकट कर देने वाले सुकरात के सत्य वचनों को नहीं सह सका। अंत में सुकरात को भी वही दिन देखना पड़ा जो ईसा और जरथुस्त्र जैसे महापुरुषों को देखना पड़ा था। उनपर सत्तर वर्ष की आयु में मुकदमा चलाया गया और अनेक अभियोग लगाए गए। आरोपकर्ताओं ने कहा—"तुम एथेन्स के नवयुवकों को पथभ्रष्ट करते हो। तुम्हारी शिक्षा से लोग देवी-देवताओं में श्रद्धा नहीं रखते और वे नास्तिक हो चले हैं।" यह भी कहा गया कि सुकरात एक धूर्त वक्ता है और उसके तर्कों से प्रभावित होकर लोग गलत रास्तों पर चल रहे हैं।

जब मुकदमा शुरू हुआ तब अपने ऊपर लगाए गए आरोपों को असत्य प्रमाणित करते हुए सुकरात ने कहा, "एथेन्स के निवासियों! मैं नहीं जानता कि मुझपर जो अभियोग लगाए गए हैं उनसे आपपर कैसी प्रतिक्रिया हुई है। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि उन्होंने अपने मिथ्यापूर्ण अभियोगों में मुझे एक धूर्त वक्ता कहा है। वे यह चाहते हैं कि आप सावधान हो जायँ और मेरे वचनों को सुनकर विभ्रमित न हों। किन्तु उन्हें इतनी बड़ी धृष्टता करते हुए

लज्जा क्यों नहीं आई, क्योंकि ज्योंही मैं मुँह खोलूँगा वैसे ही सचाई सामने आ जाएगी। मैं यह प्रमाणित करना चाहता हूँ कि मैं धूर्त वक्ता नहीं हूँ। यदि आप सत्य बोलने वाले को धूर्त समझते हैं तो मैं आपसे सहमत हूँ।"

दूसरे अभियोग का प्रत्युत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"अच्छा, मेलेतियस, क्या कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो मनुष्यता में तो विश्वास करता है किन्तु मनुष्य के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता? क्या कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो दैवत्व पर विश्वास करता है किन्तु देवता पर नहीं?"

मेलेतियस ने कहा—"नहीं।" तब सुकरात ने फिर मेलेतियस से कहा—"खैर, मेलेतियस तुमने इतना तो मान लिया कि मैं देवी-देवताओं पर विश्वास करता हूँ। किन्तु तुम्हारा कथन है कि मैं एथेन्स के देवताओं में विश्वास नहीं करता। क्या यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति गधे या घोड़े में तो विश्वास करता है पर उनकी संतानों में नहीं?"

मेलेतियस इसका कोई उत्तर नहीं दे सका क्योंकि उसका आरोप निराधार था। उसने यह अभियोग लगाया था कि सुकरात युवकों को नास्तिक बना रहा है। किन्तु सुकरात एक ईश्वरनिष्ठ तपस्वी ऋषि थे। उन्होंने कहा था, "मैं ईश्वर पर इतना विश्वास करता हूँ जितना मुझपर अभियोग लगाने वालों में से कोई भी नहीं करता। अब मैं तुम्हें और स्वयं को ईश्वरीय न्याय के हाथों सौंपता हूँ। मुझे मृत्यु की तनिक भी चिन्ता नहीं है। मैं केवल इस बात की चिन्ता

करता हूँ कि कोई भी कार्य मनुष्य या ईश्वर के नियमों के विरुद्ध न हो।"

सुकरात ईश्वर पर अगाध श्रद्धा रखते थे। यह बात उनके अनेक वक्तव्यों से पुष्ट होती है। किन्तु उनके विरोधी समस्त सम्भावित साधनों के द्वारा सुकरात का अन्त करने के लिए तुले हुए थे। एथेन्स एक गणराज्य था। वहाँ आधुनिक युग के समान न्यायपालिका और कार्यकारिणी अलग-अलग नहीं थीं। बहुमत के आधार पर ही वहाँ निर्णय लिए जाते थे। यदि बहुमत अन्याय के पक्ष में होता था तो वह भी न्याय बन जाता था। यद्यपि सुकरात ने सत्य को ही प्रकट किया था किन्तु सुकरात के इस प्रयास ने मिथ्याचारियों की क्रोध और ईर्ष्या की अग्नि को अधिक प्रज्वलित कर दिया। सुकरात ने उन्हें फिर समझाया, "मेरे श्रेष्ठ मित्रो! तुम उस एथेन्स नगरी के निवासी हो जो विद्या और बुद्धि के लिए सुविख्यात है। क्या तुम्हें यह देखकर लज्जा नहीं होती कि तुमने धन, प्रतिष्ठा और मान को ही चरममूल्यवान समझ लिया है? क्या तुम कभी भी सत्य, ज्ञान और आत्मोन्नति की ओर ध्यान नहीं दोगे? तुम लोग यह अच्छी तरह जान लो कि ईश्वर ने मुझे इसी कार्य का आदेश दिया है। मैंने अपना सारा जीवन ईश्वर की आराधना में बिताया है। मैं सदैव लोगों को यह समझाने का प्रयास करता रहा हूँ कि धन और शरीर की अपेक्षा आत्मोन्नति की ओर ध्यान देना चाहिए। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि धन या प्रतिष्ठा से सद्गुण की प्राप्ति नहीं

होती बल्कि सद्गुण के द्वारा ही धन, प्रतिष्ठा तथा वैयक्तिक एवं सार्वजनिक जीवन की समस्त उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं। यदि मैं अपनी इस शिक्षा से नवयुवकों को भ्रष्ट करता हूँ, तो मेरा अपराध महान् है। एथेन्स के निवासियो ! भले ही तुम ( मेरे विरोधी ) एनिटस की बात मानो या न मानो, भले ही तुम मुझे मुक्त करो या न करो, किन्तु इतना निश्चित रूप से जान लो कि मैं अपने जीवन का यह दृष्टिकोण नहीं बदल सकता, चाहे इसके लिए मुझे अनेक बार मरना क्यों न पड़े।.... मेलेतियस या एनिटस मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, क्योंकि मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि बुरे लोगों के द्वारा भले लोगों को कोई हानि नहीं पहुँच सकती।....ईश्वर ने तो मुझे तुम लोगों के कल्याण के लिए भेजा है, किन्तु तुम उसी प्रकार क्रुद्ध हो उठे हो जैसा कि नींद से जगा दिया जाने वाला व्यक्ति हो उठता है।"

कड़ुवी बात सत्य होते हुए भी किसे अच्छी लगती है ? गुणकारी दवा यदि कड़वी हो तो किसे रुचिकर लगती है ? ईसा ने सत्य का आश्रय लिया तो उन्हें सूली पर टाँग दिया गया, दयानन्द ने सत्य का प्रचार किया तो उन्हें काँच पिला दिया गया, गाँधी और लिंकन को उनके महान् आदर्शों के कारण गोलियाँ मार दी गईं और जरथुस्त्र की सत्यनिष्ठता का पुरस्कार यही मिला कि उन्हें यज्ञवेदी पर ही एक विरोधी के भाले का शिकार बनना पड़ा। सत्य और आदर्श में प्रतिष्ठित सुकरात के जीवन में भी यही घड़ी आई, जब ५०१ पार्षदों में से २८१ लोगों ने सुकरात के मृत्युदण्ड के पक्ष में

अपना निर्णय दे दिया। किन्तु इस निर्णय से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। शान्त-गम्भीर स्वर में उन्होंने अपना अंतिम वक्तव्य देते हुए कहा—"मित्रों! मृत्यु से बचने की अपेक्षा दुष्टता से बचना अधिक कठिन है क्योंकि दुष्टता मृत्यु से भी अधिक द्रुतगामी है। मैं वृद्ध और शिथिल होचला हूँ और आज मैं इसी शिथिलगामी मृत्यु से पराजित हो गया हूँ। किन्तु मुझपर दोषारोपण करने वाले चंचल और धूर्त व्यक्ति उस दुष्टता से पराजित हो गए हैं जो उनसे भी अधिक चंचल और वेगवान है। तुम्हारे निर्णय के अनुसार मैं तो यहाँ से मृत्यु की गोद में चला जाऊँगा किन्तु वे लोग सत्य के दण्ड और विधानों के अनुसार अपनी दुष्टता और दुष्कर्म का फल भोगने के लिये बच रहेंगे।"

सुकरात एक महान् योगी थे। उनके लिए जीवन और मरण में कोई भेद नहीं था। उन्होंने इस तथ्य पर बार-बार जोर दिया है कि आत्मा अमर है और शरीर नश्वर है। शरीर का नाश उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं था। वे तो आत्मज्ञानसम्पन्न द्रष्टा थे। मृत्युदण्ड का निर्णय सुनने के बाद भी वे शान्त और अविचल रहे। मृत्यु के सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ उनके हृदय की अनुभूतियों का सुन्दर चित्रण करती हैं। उन्होंने कहा था—"यदि हम दूसरे ढंग से विचार करें तो भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मृत्यु हितकर है। इसका कारण यह है कि मृत्यु के उपरान्त जीव की स्थिति के सम्बन्ध में दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं। या तो मृत व्यक्ति समस्त संवेदनाओं से रहित हो जाता है और उसका अस्तित्व

समाप्त हो जाता है अथवा, जैसा कि सामान्य विश्वास है, मृत्यु एक परिवर्तन है, आत्मा का एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर प्रयाण है। यदि मृत्यु समस्त संवेदनाओं से रहित और स्वप्नादिकों से अबाधित एक प्रगाढ़ निद्रा है तब भी यह एक अपूर्व लाभ है।" क्योंकि सुकरात समझते थे कि सुखपूर्ण और स्वप्नादिकों से सर्वथा रहित एवं अबाधित निद्रापूर्ण रात्रि, जीवन के अन्य दिनों और रातों से कहीं अधिक मूल्यवान है।

सुकरात के इस कथन का प्रमाण हमें सामान्य जीवन में ही मिल जाएगा। धन-धान्य से सम्पन्न, सारी सुविधाओं से पूर्ण एवं राजसिक सुखों में लीन कोटिपति लक्ष्मीपुत्र एक मीठी रात और एक गहरी नींद के लिए लालायित रहा करते हैं। सड़क के किनारे सोनेवाला, घर और संसार की सुविधाओं से सर्वथा रहित, दरिद्र और विपन्न व्यक्ति भी जब गहरी और सुख की नींद सोता है तब ये सम्पन्न व्यक्ति अपनी वैभवपूर्ण अट्टालिकाओं में निशाचर की तरह जागते रहते हैं। एक रात की अच्छी नींद के लिए वे न जाने कितने वैद्यों और औषधियों की शरण में जाते हैं किन्तु उनके हाथ निराशा ही लगती है। तब न जाने मृत्यु कैसी मीठी नींद होगी? न जाने उसके क्रोड़ में कैसी चिरशांति होगी? जब जीवन साथ छोड़ देता है तब मानों मृत्यु ही शाश्वत हो जाती है। इसलिए सुकरात पुनः कह उठते हैं; "तब तो ऐसा बोध होता है कि शाश्वत मानो एक रात से अधिक कुछ भी नहीं है।" वे मृत्यु के आध्यात्मिक पक्ष पर प्रकाश

डालते हुए कहते हैं, "यदि यह सामान्य विश्वास सच हो कि मृत्यु एक दूसरे लोक की यात्रा है और उस लोक में वे सभी लोग हैं जो मर चुके हैं, तो इससे अच्छा और क्या हो सकता है ? यदि हम इस बात को सत्य समझकर इसपर विश्वास कर लें, तो किसी भी सदाचारी व्यक्ति की न तो इस जन्म में क्षति होगी और न मृत्यु के उपरान्त ही"'। अब इस स्थान से चलने का समय हो गया है। मुझे मरने के लिए जाना है और आपको जीने के लिए। यह तो केवल ईश्वर को ही ज्ञात है कि जीवन अच्छा है या मृत्यु।"

न्याय घोषित होने के एक माह के उपरान्त सुकरात को प्राणदण्ड दिया गया था। तबसे लेकर मरने के अन्तिम क्षण तक वे उपदेश और शिक्षा देते रहे। एक दिन उनके प्राण को बचाने की दृष्टि से उनके मित्र क्रिटो ने उनसे कहा— "किन्तु ओ मेरे प्रिय सुकरात ! सुनो, मैं तुमसे अन्तिम बार प्रार्थना करता हूँ कि तुम अपने आप को बचा लो। तुम्हारी मृत्यु मेरे लिए एक महान् विपत्ति होगी। इससे न केवल मैं एक ऐसे मित्र को खो दूँगा जिसके समान मित्र मैं फिर न पा सकूँगा, अपितु सारा संसार, जो मुझे और तुम्हें भली-भाँति नहीं जानता होगा, कहेगा कि यदि क्रिटो ने अपना धन व्यय किया होता तो वह सुकरात को बचा सकता था पर उसने ऐसा नहीं किया। जो मित्र की अपेक्षा पैसे को अधिक महत्व देता है उससे बुरा भला और कौन सा व्यक्ति हो सकता है ? संसार कभी भी इस बात पर विश्वास नहीं

करेगा कि यद्यपि हम तुम्हें बचा लेने को उत्सुक थे किन्तु तुम्हींने मना कर दिया।"

सुकरात को लोगों के कहने की चिन्ता कब थी ? उन्होंने क्रिटो के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। आखिर मृत्यु की घड़ी आ पहुँची। विष देने वाले सिपाही ने क्रिटो से प्रार्थना की, "उनके लिए अधिक बातचीत करना अच्छा नहीं है। इससे शरीर की क्रियाएँ तीव्र हो जाती हैं और विष का ठीक प्रभाव नहीं हो पाता। कई बार लोगों को दो-दो तीन-तीन बार विष पीना पड़ता है।" क्रिटो ने सुकरात से जब सिपाही का संदेश कहा तो सुकरात ने उत्तर दिया, "उसे मेरी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जितने विष की आवश्यकता प्रतीत हो वह उतना तैयार रखे।" खिन्न स्वर में क्रिटों ने कहा, "मैं यह जानता था कि आप यही उत्तर देंगे, किन्तु वह व्यक्ति विशेष रूप से आग्रह कर रहा है।" सुकरात ने उत्तर दिया, "तुम उसकी चिन्ता मत करो। उससे कहो कि वह अपना काम करे।" और, वे पुनः चर्चा में व्यस्त हो गए। उनकी बेड़ियाँ खोल दी गईं और वे स्नान करने के लिए चले गए। स्नान के उपरान्त वे पुनः जीवन के विभिन्न गूढ़-तत्त्वों और महत्त्वपूर्ण पक्षों पर शांतिपूर्वक चर्चा करने लगे। इस समय उनके दोनों पुत्र और उनकी पत्नी जेन्थीपो भी उपस्थित थे। जीवन भर कर्कश व्यवहार करने वाली इस नारी की आँखें इस समय गीली हो उठी थीं। सुकरात ने उनकी दुर्बलता को लक्ष्य कर उन्हें वापस भेज दिया। फिर उन्होंने पूछा—

"क्या विष तैयार है ?"

"जी हाँ", उत्तर मिला।

"तो ले आओ। और हाँ, अब मुझे क्या करना है?" सुकरात ने पूछा।

"आपको केवल इसे पी लेना है और फिर यहीं टहलते रहना है। धीरे-धीरे आपके पैर भारी होने लगेंगे और क्रमशः विष ऊपर के अंगों की ओर चढने लगेगा।" विष देने वाले ने कहा।

सुकरात ने ईश्वर से प्रार्थना की और शांतिपूर्वक सारा विष पी लिया। उनके मित्र अब आँसू न रोक सके और रो पड़े। एपोलोडोरस तो जोर से चीख पड़ा। किन्तु सुकरात ने पूर्ववत शांतस्वर में सांत्वना देते हुए कहा—"यह क्या कर रहे हो, मित्र? इसी भय से तो मैंने अपनी पत्नी और पुत्रों को वापस भेज दिया। इसप्रकार तो तुम मुझे और दुखी कर रहे हो। मैंने सुना है कि मनुष्य को शांतिपूर्वक मरना चाहिए। मुझे वैसा ही मरने दो और चुप हो जाओ।"

धीरे-धीरे उनका पैर भारी हो गया। वे चुपचाप लेट गए। विष देने वाला बार-बार उनकी परीक्षा कर रहा था। विष उत्तरोत्तर ऊपर की ओर बढ़ रहा था। सुकरात ने कहा, "जब विष का प्रभाव हृदय तक हो जाएगा, तब मैं चला जाऊँगा।" विष प्रायः उनके हृदय के पास तक पहुँच चुका था। हृदय के नीचे के अंग कड़े और ठण्डे हो गए थे। अचानक उन्हें कुछ याद आया। उन्होंने कहा—"क्रिटो, मैंने एक्लेपियस देवता को एक मुर्गा चढ़ाने की मनौती की थी। सो तुम वह कर देना।" क्रिटो ने रोते हुए कहा,

"जी हाँ। कोई और आज्ञा ? कोई और इच्छा ?" किन्तु इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। सब कुछ शेष हो चुका था। विष देनेवाले ने कपड़ा हटाकर देखा—प्राण जा चुके थे।

वह सूर्यास्त का समय था। दो सूर्य एक साथ पश्चिमी क्षितिज की ओर बढ रहे थे विश्राम के लिए। और तब पृथ्वी पर छा गया था एक ऐसा अन्धकार जो मानों उस असत्य के समान था जिसने सत्य पर विजय पा ली थी। किन्तु जैसे छोटा सा बीज गलकर महान् वटवृक्ष बन जाता है, उसीप्रकार सत्य के अंकुर को स्वयं में समेटने वाला सुकरात का वह शरीर तो उसी दिन मिट्टी में गल गया किन्तु उससे सत्य का जो विशाल वट-वृक्ष फूट निकला, उसके नीचे न जाने कितनी जिज्ञासाओं और सत्यान्वेषियों को शान्ति और प्रेरणा मिली है, मिल रही है और कदाचित् चिरकाल तक मिलती रहेगी।

वह सत्य का सोना था। झूठ की भट्ठी में उसे झोंक दिया गया। पर वह उसमें जलकर और भी कीमती तथा उपयोगी हो गया। वह सारे संसार के सत्यार्थियों के लिए अमर प्रेरणा का स्रोत बन गया।

---

# स्वामी विवेकानन्दजी के संस्मरण

संकलनकर्ता—श्री शरद् चन्द्र पेंढारकर

कलकत्ते की एक शिक्षण-संस्था के कुछ विद्यार्थी वहाँ का 'फोर्ट विलियम' किला देखने गये हुए थे। सहसा उनके एक साथी के पेटमें पीड़ा होने लगी। उसने अपने मित्रों से और आगे चलने में अपनी असमर्थता दर्शाई और वह सीढ़ियों पर बैठ गया; लेकिन उसके साथियों ने इस बात पर विश्वास न किया और उसकी हँसी उड़ाते हुए वे सब ऊपर चले गये।

ऊपर जाने पर एक विद्यार्थी को सन्देह हुआ — कहीं सचमुच ही तो उसे पीड़ा नहीं है? वह लौट पड़ा। नीचे आकर उसने जो देखा तो उसे बड़ा ही दुःख हुआ। वह विद्यार्थी मूर्छित होकर गिर पड़ा था। समीप आकर उसने जब उसके शरीर को छूआ, तो उसे ज्वर आया हुआ मालूम पड़ा। उसने तत्क्षण गाड़ी बुलायी और उसे गाड़ी में रखकर घर पहुँचा आया।

उस बीमार विद्यार्थी का नाम तो किसी को ज्ञात नहीं, मगर जो उसे घर पहुँचा आया, उसका नाम था नरेन्द्र, जो आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

× × ×

यह प्रसंग भी स्वामीजी के प्रारंभिक जीवन का है। श्री रामकृष्ण परमहंस का उनपर असीम स्नेह था। उन्होंने एक बार नरेन्द्र से बोलना बंद कर दिया। जब भी नरेन्द्र

उनके सम्मुख आते, वे मुँह फेर लेते और गंभीर हो जाते। तो भी नरेन्द्र नित्य सहजभाव से उन्हें प्रणाम करते और थोड़ी देर बैठकर लौट आते। कई सप्ताह तक यही क्रम चलता रहा। आखिर श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्र से एक दिन पूछ ही लिया—"मैं तुझसे बोलता नहीं, तब भी तू आता है। क्या बात है?" नरेन्द्रने कहा—"आपके प्रति प्रेम है, इसीलिए दर्शन करने चला आता हूँ। यों भी मैं सिर्फ आपकी बातें सुनने तो आता नहीं।" यह सुनकर श्री रामकृष्ण का हृदय भर आया और वे नरेन्द्र को छाती से लगाते हुए बोले—"अरे पगले, मैं तो तेरी परीक्षा कर रहा था कि तू उपेक्षा भी सह सकता है या नहीं? और तू उसमें शत-प्रति-शत सफल रहा।"

× × ×

एक बार स्वामी विवेकानंदजी को इस बात का दुःख हुआ कि उन्होंने अभी तक ईश्वर के दर्शन नहीं किये, भगवान की अनुभूति नहीं प्राप्त की। (उस समय वे संन्यासी जीवन में थे।) वे एक वन में गये। समस्त वन अंधकार से परिपूर्ण था। स्वामीजी को भूख ने भी परेशान करना आरंभ कर दिया कि इतने में उन्हें एक शेर दिखाई दिया। वे प्रसन्नता से नाच उठे। उन्होंने स्वयं को शेर को सौंप देने का निश्चय किया। वे शेरके सामने जाकर खड़े हो गये। पर शेर की हिंसात्मक वृत्ति भी इस अवतारी पुरुष के दर्शन से बदल गई और वह चुप चाप दूसरे रास्ते से निकल गया।

× × ×

स्वामीजी से एक बार अलवर-नरेश ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, मूर्ति-पूजा पर मेरी बिलकुल श्रद्धा नहीं। धातु, लकड़ी और पत्थर से तैयार किये हुए इन देवताओं की पूजा करने का क्या प्रयोजन है? मैं ऐसी प्रतिमाओं की पूजा नहीं करता, इसलिए मुझे अधोगति तो प्राप्त न होगी?"

समीप ही राजा साहब के दीवान बैठे हुए थे और उनके ऊपर राजासाहब का चित्र टँगा हुआ था। स्वामीजी ने दीवान से प्रश्न किया, "यह चित्र किसका है?" उसके द्वारा 'महाराज का है', यह उत्तर सुन स्वामीजी ने उसे उस चित्र पर थूकने की आज्ञा दी। यह सुन वहाँ उपथिस्त लोग सन्न रह गये। दीवान तो बेहद घबरा गया। वह स्वामीजी से बोला, "महाराज, आप यह क्या आज्ञा दे रहे हैं? यह तो हमारे साक्षात् 'महाराज' का चित्र है। ऐसा कुकर्म मुझसे न होगा।" स्वामीजी ने दीवान से कहा, "यह कोई सजीव व्यक्ति तो है नहीं, मात्र एक कागज का टुकड़ा है। फिर तुम्हें उसपर थूकने में क्यों हिचक हो रही है?"

फिर वे राजा से बोले, "इस चित्र में दीवानजी को आपकी प्रतिमा दिखाई देती है। उन्हें आपके प्रति जितना आदर है, उतनाही आपके चित्र के प्रति भी है। उनकी दृष्टि में आपकी फोटो पर थूकना आपका अनादर करना है। ठीक यही बात देवी - देवताओं के बारे में है। भक्तगण धातु या पत्थर की पूजा नहीं करते, वरन् उनमें अदृश्य रूप से विराजमान देवता की पूजा करते हैं।"

यह सुन राजासाहब की आँखें खुल गयीं और उन्होंने मूर्तिपूजा के तत्त्व को स्वीकार कर लिया।

× × ×

इसी प्रकार, और एक प्रश्न अलवर-नरेश ने स्वामीजी से किया था, "स्वामीजी, आपकी विद्वत्ता अपार है। आप सरीखा वक्ता मिलना भी दुष्कर है, आपकी सामर्थ्य भी महान् है। मैं इन सब गुणों के लिए आपके प्रति नतमस्तक हूँ। मगर फिर भी मेरे मन में बार-बार एक शंका आती है कि आप भिक्षा क्यों माँगते हैं? क्या भिक्षा द्वारा प्राप्त भोजन से ही आपको संतोष प्राप्त होता है?"

स्वामीजी ने बजाय उत्तर देने के उनसे ही प्रश्न किया, "आप एक राजा होते हुए भी राज्य की ओर अधिक ध्यान क्यों नहीं देते? प्रजा का अधिक ख्याल करते नहीं तथा हमेशा शिकार और भोग-विलास में मग्न रहते हैं। इसकी क्या वजह है?"

अलवर नरेश ने जवाब दिया, "क्योंकि मुझे इन बातों में अधिक दिलचस्पी है।" "और यदि ऐसा है, तो" स्वामीजीने तपाक् से उत्तर दिया, "मुझे भी भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करने में आनंद आता है।"

× × ×

घटना अमरीका की है। एक बार स्वामीजी को भाषण देने जाना था। उन्होंने कपड़े पहिने और दीवार पर टँगे आइने में देखते हुए अपना साफा पहिनने लगे। साफा पहिनने के उपरान्त वे बाहर चलने के लिए दरवाजे तक

आये और पुनः लौटकर आईने में अपना चेहरा देखने लगे । यही क्रम चलता रहा । वे दरवाजे तक आते और पुनः लौट जाते । द्वारके समीप ही उनकी अमरीकन शिष्याएँ सिस्टर ख्रिस्टिन तथा मिस जोसेफाइन मॅक्लीऑड खड़ी थीं। वे स्वामीजी का बार-बार आना और वापस जाना देखकर स्तंभित रह गईं । उन्होंने समझा कि स्वामीजी को भी अपने रूपका मोह हो रहा है ।

इतने में स्वामीजी का ध्यान उन दोनों की ओर गया और उनके मनके विचार उन्होंने जान लिए । वे बोले, "देखो भाषण की वेला समीप आती जा रही है । मैं मन को बार-बार चेतावनी दे रहा हूँ कि अब भाषण देने जाना है । आईने के सामने खड़े होने पर शरीर का खयाल आता है, किंतु वहाँ से हट जाने पर मन अनंत में विलीन हो जाता है और मैं सब कुछ भूल जाता हूँ ।"

यह सुन शिष्याएँ बड़ी लज्जित हुईं ।

× × ×

अमरीका की ही घटना है। एक बार स्वामीजी रास्ते से जा रहे थे कि एक व्यक्ति ने पीछे से उनका साफा गिरा दिया । स्वामीजी ने यह जानना चाहा कि उनसे छेड़छाड़ करने वाला कौन है ? उन्होंने मुड़कर जो देखा, तो उन्हें एक सभ्य व्यक्ति दिखाई दिया । वे क्रोधित तो नहीं हुए पर हँसते हुए अंग्रेजी में उससे बोले, "मेरी समझ में नहीं आता कि आप सरीखे एक सभ्य व्यक्ति पर मेरा साफा गिराने की

अवस्था कैसे आई ?" उन्हें अंग्रेजी में बोलते देखकर वह बड़ा ही लज्जित हुआ और लड़खड़ाती जबान में डरते-डरते बोला, "क्षमा कीजिए, आपकी यह अनोखी पोशाक देखकर मैं आपको कोई ढ़ोंगी साधु समझ बैठा था।" स्वामीजी ने तत्क्षण उत्तर दिया, "आपके देश की सभ्यता का मैंने गुण-गान सुना था और उससे प्रभावित होकर ही मैं यहाँ आया था। आपने अपनी सभ्यता का जो पहला सबक पढ़ाया, उसके लिए धन्यवाद।" अब तो वह व्यक्ति और भी लज्जित हुआ और "क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए" कहते-कहते एक गली में घुस पड़ा।

× × ×

घटना उस वक्त की है, जब विवेकानन्दजी कलकत्ता के एक उपनगर में अपने गुरु-बंधुओं के साथ शांतिपूर्वक साधना कर रहे थे। साथ-ही साथ समाजसेवा का भी काम जारी था। एक पुलिस सुपरिंटेंडेन्ट उनसे उपदेशामृत लेने के लिए हमेशा आया करता। एक दिन उसने स्वामीजी को अपने घर में संध्या को भोजन के लिए आमंत्रित किया।

स्वामीजी जब नियत समय उसके यहाँ उपस्थित हुए, तो वहाँ उन्होंने कई पुलिस अफ़सरों को आमंत्रित देखा। मगर वे सब थोड़ी ही देर में वापस चले गये। वह पुलिस सुपरिंटेन्डेंट अंदर गया और लगभग एक घंटे के बाद वापस आया। आकर उसने स्वामीजी से धीमी आवाज में कहा, "स्वामीजी, अपने दल की सारी जानकारी मुझे दे दो। असत्य कदापि न बोलना, क्योंकि सारी बातें मुझे मालूम

हो चुकी हैं। तुम सब धार्मिकता की आड़ में सरकार के खिलाफ कार्य कर रहे हो, यह सब छिपा नहीं है, सारे सबूत मेरे पास मौजूद हैं। फिर भी हमें सारी बातें बता दो।" यह सुन स्वामीजी तो दंग रह गये। वे बोले, "आप यह क्या कह रहे हैं ? मेरी समझ में नहीं आता कि आपका तात्पर्य किस दल से है ?"

सुपरिंटेंडेन्ट शांतिपूर्वक बोला, "वही तो मैं पूछना चाहता हूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि तुम लोग सरकार के खिलाफ षड़यंत्र रच रहे हो और तुम इस षडयंत्र के मुखिया हो। यदि सच-सच बता दोगे, तो तुम्हें सरकारी गवाह बनाया जाएगा और माफ कर दिया जायगा।"

"यदि आपको सारी बातें मालूम हो चुकी हैं, तो आप मेरे घर की तलाशी क्यों नहीं लेते ? हमें पकड़ते क्यों नहीं ?" कहते हुए उन्होंने अन्दर से संकल लगा ली। अब तो वह सुपरिंटेन्डेन्ट और दो पुलिस जो उस कमरे में मौजूद थे, बेहद घबड़ा गये, क्योंकि वे दुबले-पतले थे, जबकि स्वामीजी का शरीर व्यायाम द्वारा कसा हुआ था। विवेकानंदजी आगे बोले, "आपने मुझे एक झूठा कारण बताकर यहाँ बुलाया और झूठा आरोप लगा रहे हैं। वैसे ये तो आपके हथकन्डे हैं, किंतु मुझे तो ठीक इसके विपरीत सीख मिली है कि कोई कितना भी अपमान करे, उसका प्रतिकार न करूँ। यदि मैं गुनहगार होता, तो अबतक आप-सबका गला घोंटकर यहां से चंपत हो चुका होता। आप लोगों में किसी की इतनी हिम्मत नहीं कि मेरा मुकाबला कर सकें। आप लोग

भ्रम में हैं। इस प्रकार किसी भी निर्दोष व्यक्ति पर ऐसे झूठे आरोप कभी भी न लगाया करें।" यह कहकर उन्होंने संकल खोली और बड़ी सहजता से अपने निवास - स्थान की ओर रवाना हुए।

× × ×

स्वामीजी विनोदी स्वभाव के भी थे। एक बार वे कुछ विद्वत्जनों के साथ चर्चा कर रहे थे कि अकस्मात् जयपुर के प्रसिद्ध पंडित सूर्यनारायण वहाँ उपस्थित हुए। वे भी चर्चा में शामिल हुए।

चर्चा जब अवतारों पर चली तो पंडितजी बोले, अवतारी पुरुषों में कुछ खास आध्यात्मिक शक्ति रहती है, इस बात पर मेरा कतई विश्वास नहीं। हम सब ब्रह्म हैं। मुझमें और एक अवतार में क्या अंतर है?" स्वामीजी ने तत्काल जवाब दिया, "आपका कथन सत्य है। किन्तु हिंदू लोग मत्स्य, कच्छप और वराह इनको भी अवतार मानते हैं। क्या आप में और इन तीनों में अंतर नहीं? फिर आप इनमें से कौन हैं?"

यह सुन वहाँ उपस्थित लोग हँसने लगे और पंडितजी बड़े ही लज्जित हुए।

---

# एक समाधान

प्राध्यापिका कु० शकुन्तला घाटगे

युग युग से दासता की बेड़ियों में जकड़ी भारतीय नारी आज अपने प्राचीन आदर्शों को खो चुकी है। उन दासता की शृंखलाओं को तोड़कर वह आज अपने अधिकारों के प्रति सजग तो हो गई है पर अपने प्राचीन आदर्शों को भूलकर वह दिग्भ्रमित हो चुकी है। वह स्वयं नहीं जानती कि वह क्या है? उसका उद्देश्य क्या है? उसका जीवन क्या है? न तो वह पूर्ण पाश्चात्य रंग में ही अपने आपको रंग पाई है और न अपने प्राचीन आदर्शों पर ही स्थिर रह सकी है। उसकी स्थिति त्रिशंकु के समान है। उसकी चेतना शून्य हो गई है। वह अपने कर्तव्यों को विस्मृत कर चुकी है। पर नारी की इस स्थिति का उत्तरदायित्व हम किस पर सौंपें? इसका एक बड़ा उत्तरदायित्व पुरुष-वर्ग पर है जिसने अपनी स्वार्थ-रक्षा के लिये नारी को समस्त मानवी अधिकारों से वंचित रखा। भारत का इतिहास साक्षी है कि वह भारत गौरवशाली रहा है जिसमें नारी की प्रतिष्ठा होती थी, उसका आदर होता था, जिसमें नारी पुरुष के समकक्ष मानी जाती थी। स्वातन्त्र्य से ही उद्धार एवं उन्नति होती है; पराधीनता और दासता से हीनता की वृद्धि एवं पतन होता है।

युगों तक पराधीनता की शृंखला में आबद्ध नारी आज स्वतन्त्र होने के लिये छटपटा रही है। चहारदीवारी के अन्दर बन्द वातावरण ने तथा पुरुष की संकीर्णता ने उसमें विद्रोह की भावना जागृत कर दी है। आज उन कर्तव्यों के प्रति उसकी विद्रोहात्मक भावना हो चुकी है जिनके प्रति उसका स्वाभाविक लगाव होना चाहिये था। इसमें भारतीय नारी न केवल अपने प्रकृत और आदर्श गुणों को खोती जा रही है, या खो चुकी है वरन् भारतीय समाज के सुख और शान्ति को भी एक खतरा पैदा हो गया है। शिशु-संगोपन जो नारीत्व का गौरव है, सदियों-पोषित हीनत्व की भावना के कारण नारी को भारस्वरूप प्रतीत होने लगा है। जिस गृहकार्य तथा पाक-प्रबन्ध की व्यवस्था में नारी आत्म-सन्तोष का अनुभव करती थी, आज वही उसे अनावश्यक बोझ-से प्रतीत होने लगे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उसकी इन सेवाओं के बदले उसे जो सम्मान या आदर पुरुष द्वारा प्राप्त होना चाहिये था, वह नहीं होता। वह घर में सबकी सेवा करती है, गृहकार्य करती है जिसके बिना पुरुष को कोई सुख नहीं मिल सकता, फिर भी घर में अनार्थिक ईकाई के रूप में होने के कारण उसको उचित सम्मान नहीं प्राप्त होता। तो फिर क्यों उसमें विद्रोह की भावना नहीं जागेगी? क्यों वह आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनना न चाहेगी? क्यों पुरुष यह नहीं सोचता कि यदि वह परिवार के तन का पोषण करता है तो नारी उस तन को जीवन प्रदान करती है, उसकी आत्मा को शक्ति देती है, उसके मन को

शान्ति का संगीत सुनाती है, इसलिये उसके नारीत्व का आदर होना चाहिये ? पुरुष के अहं ने नारी के नारीत्व को चोट पहुँचाई है। इसके परिणाम स्वरूप आज एक भयंकर समस्या उपस्थित हो गई है जिसका निदान अगर न हुआ तो भारत अपना वह सांस्कृतिक गौरव खो देगा जिसे भारतीयता कहते हैं। फिर भारत में भी कुटुम्बहीन समाज होगा जो पूर्णतः उत्तरदायित्वहीन तथा स्नेह और कर्तव्य की पावन शक्ति से रीता होगा। पर अभी भी समय है, भारत को सम्हल जाना चाहिये। अन्यथा यह समस्या इतना विकराल रूप धारण कर लेगी कि अल्प कालोपरान्त ही समाधान ढूँढ़ना और उसे कार्यान्वित करना कठिन होगा।

प्रश्न है समाधान का। उत्तरदायित्व किस पर सौंपा जाय — पुरुष पर या नारी पर ? निश्चय ही दोनों पर। पुरुष और नारी दोनों समाज के परस्पर - पूरक घटक हैं। सुख-दुख में भी वे एक दूसरे के समभागी हैं यह दोनों को समझना चाहिये। पर पुरुष का कार्यक्षेत्र कुछ अलग है और नारी का कर्मक्षेत्र कुछ अलग, यह नारी को भी नहीं भूलना चाहिए। नारी यह न भूले कि उसका प्रथम एवं मूल आदर्श उसका मातृत्व, उसका पत्नीत्व, उसका भगिनीत्व है। पारिवारिक सुख और शान्ति के लिये नारी को त्याग करना ही होगा तथा पुरुष को भी नारी के साथ सहृदयता से तथा सहयोगी बनकर कार्य करना होगा।

वर्तमान समय में परिवार में आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने के लिये नारी को घर के बाहर कार्य करना पड़ता है।

परिणामस्वरूप गृहकार्य में कुछ शिथिलता अवश्य आती है, पर बाहर का कार्य वह परिवार के हित में ही करती है। इसलिये पुरुष को उससे सहानुभूति होनी चाहिये तथा उसके सहयोग, कष्ट-सहिष्णुता, त्याग और बलिदान के लिए उसे उचित सम्मान और आदर देना चाहिये। नारी तो मिटती है। मिटने में ही उसका गौरव भी है पर पूर्ण श्रद्धा से वह मिटे, आत्म विह्वलता से वह मिटे, विकलता से वह मिटे इसके लिये पुरुष को भी उस योग्य बनना होगा। भारतीय नारी में यदि वह सीता का रूप देखना चाहता है तो उसे भी राम बनना आवश्यक है।

पुरुष-वर्ग से यह कहना है कि नारी के आगे झुकने में उसका अहं कम नहीं होता, उसके अहं को किसी प्रकार चोट नहीं पहुँचती, वरन् वह नारी के हृदय में ध्रुव पद प्राप्त कर लेता है, श्रद्धा प्राप्त कर लेता है। नारी-हृदय इतना कोमल होता है कि वह तो यूँ भी देने में ही आत्मसन्तोष का अनुभव करता है। फिर यदि श्रद्धा या स्नेह से वह जो कुछ देगी उसमें उसे कितना सुख मिलेगा, वह कितनी गद्गद् होगी। इस स्थिति में पुरुष को उससे जो कुछ प्राप्त होगा, क्या वह स्वर्गीय सुख से किसी प्रकार कम होगा?

नारी से यह कहना है कि उसका मातृत्व ही उसका गौरव है तथा उसका सतीत्व उसका शृंगार। चण्डी का रूप धारण कर वह अपनी कोमलता खो चुकी है और कोमलता के साथ उसने स्नेह, सहिष्णुता, दया आदि आभूषणों को भी खो दिया है। यदि वह अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करना चाहती

है तो उसे अपनी खोयी हुई निधि प्राप्त करनी होगी, अपने उन कर्त्तव्यों को समझना होगा जो पुरुष के कर्तव्यों से भिन्न होते हुए भी, अपने में किसी भी प्रकार हीन नहीं हैं तथा जिनकी पूर्ति में ही नारी की महानता है।

जब पुरुष और नारी दोनों अपने अपने कर्तव्यों को ठीक ठीक समझने लगेंगे, तब पुरुष भी यह समझ सकेगा कि उसकी सर्वांगीण उन्नति के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति में भी नारी बाधक नहीं वरन् साधक है। सहयोगी के रूप में जब दोनों आत्मिक विकास की ओर अग्रसर होंगे, तब स्वयंमेव ही जीवन का आध्यात्मिक पहलू परिपुष्ट होता चलेगा, सुख और शान्ति का भी अभाव न होगा। पारिवारिक बन्धन दृढ़तर होंगे तथा समाज-व्यवस्था और भी परिष्कृत और सुदृढ़ बनेगी। भारत का जनजीवन अधिक सुखी होगा।

---

और जैसा तुम चाहते हो लोग तुम्हारे साथ करें तुम भी उनके साथ वैसा ही करो।

—प्रभु ईसा

प्रश्न—आपका 'धर्म' शब्द से क्या तात्पर्य है? मेरी समझ में तो धर्म के ही कारण खून-खराबियाँ होती हैं, मानवता आपस में कटती-मरती है। पाकिस्तान और भारत के दंगे क्या धर्म के ही कारण नहीं हुए?

—सोमदेव सिंह, जबलपुर।

उत्तर—मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण है। शुभ प्रवृत्तियाँ उसे उदारता और परदुःख कातरता की ओर ले जाती हैं, जबकि अशुभ प्रवृत्तियों से वह स्वार्थी, ओछा, लोलुप और वासनामय होता जाता है। धर्म शुभ प्रवृत्तियों को उभाड़ता है, पनपाता है और अशुभ प्रवृत्तियों का दमन करता है। संसार का कोई धर्म मनुष्य को आपस में लड़ने के लिए नहीं कहता बल्कि धर्म तो सबको एकता की डोर में बाँध देना चाहता है। धर्म की परिभाषा देते हुए भीष्म पितामह महाभारत में कहते हैं:—

धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।
यः स्यात् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

—अर्थात्, जो धारण करता है, इकट्ठा लाता है, अलगाव को दूर करता है उसे धर्म कहते हैं। ऐसा धर्म प्रजा का धारण करता है। जिसमें प्रजा को एक सूत्रता में बाँध देने की ताकत है, वह निश्चय ही धर्म है।

उपर्युक्त परिभाषा से धर्म का स्पष्ट स्वरूप सामने आता है। आप इससे स्वयं ही विचार कर सकते हैं कि धर्म कैसे खून-खराबियों के लिये जिम्मेदार ठहराया जा सकता है? यह आजकल एक सस्ती चर्चा है कि धर्म ही समस्त दोषों का कारण है। पर वास्तव में, धर्म दोषी नहीं है। दोष तो यह है कि हम धर्म के निर्देशों को जीवन में नहीं उतारते। मनुष्य में स्वाभाविक ही विभाजन की प्रवृत्ति है। धर्म इस प्रवृत्ति पर रोक लगाती है।

यदि आपके तर्क को थोड़ी देर के लिए स्वीकार कर लिया जाय कि धर्म के कारण खून-खराबियाँ होती हैं, दंगे होते हैं, तो हम एक प्रश्न आपके सामने रखेंगे कि जो एक ही धर्म के माननेवाले होते हैं वे क्यों आपस में लड़ते मरते हैं? एक ही ईसाई धर्म के माननेवाले कई चर्चों में बँट गये हैं और आपस में उसी प्रकार लड़ते हैं जैसे दूसरे धर्मवालों से। मुसलमान धर्म भी कई सम्प्रदायों में बँटकर मार-काट पर उतारू होता है। शिया-सुन्नी के झगड़े प्रसिद्ध हैं ही। हिन्दू धर्म के भी कई सम्प्रदाय हैं जो एक दूसरे को नीचा दिखाने की ताक में रहते हैं। इस सबका क्या कारण है? आप शायद कहेंगे कि सम्प्रदाय भी धर्म के अन्तर्गत आते हैं, अतः सम्प्रदायों के झगड़ों को भी धर्म का झगड़ा कहा जा सकता है।

यदि ऐसा है तो एक दूसरा प्रश्न रखता हूँ—पूर्वी पाकिस्तान में एक ही सम्प्रदाय के लोगों में भी मार-काट की खबर छपी है। वह किस प्रकार? बंगाली मुसलमान और बिहारी मुसलमान दोनों आपस में लड़ रहे हैं। यह क्यों? एक ही सम्प्रदाय वाले आसामियों और बंगालियों में लड़ाई हो गई, दंगा हो गया। यह क्यों? आप कहेंगे कि यह प्रान्तीयता की भावना के कारण हुआ। जो हो, पर यहाँ तो धर्म नहीं था। उसी प्रकार, श्वेत और अश्वेत, पूँजीवाद और साम्यवाद तथा इस प्रकार के अनेक द्वन्द्वों के फलस्वरूप जो खून-खराबियाँ होती हैं, वहाँ पर तो धर्म नहीं रहता।

तात्पर्य यह हुआ कि विभाजन मनुष्य के स्वभाव में है और धर्म उस विभाजन की प्रवृत्ति पर रोक लगाता है। जितने भी महान् धर्मप्रचारक, धर्मसंस्थापक हो गये हैं, सबकी वाणी विश्व-बन्धुत्व के गीत गाती है, सारे धर्म एक ही सत्य का बखान करते हैं और मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरियों को जीत लेने का अह्वान करते हैं। इस दृष्टिकोण से यदि आप धर्म को देखें, तो आपकी धर्म सम्बन्धी धारणा में आमूल परिवर्तन हो जायगा और धर्म को विध्वंसक कहने के बजाय आप उसे विश्व का संरक्षक ही कहेंगे।

प्रश्न—आजकल नीति के रास्ते पर चलनेवालों को ही अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—ऐसा क्यों?

— सुधाकर द्विवेदी, अमृतसर।

उत्तर – यह केवल आज ही नहीं, सब समय ऐसा होता आया है। रामायण और महाभारत इसके प्रमाण हैं। राम और सीता आजीवन कष्ट सहते रहे, पाण्डवगण पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करते रहे। अतः नीति के पथ पर चलनेवालों को कठिनाइयाँ और बाधाएँ पुरस्कारस्वरूप मिलती हैं। यह आग है जिससे सोने का मल जलकर, सोना निखर उठता है। नीतिमान् व्यक्ति विघ्न-बाधाओं की ताप में तपकर खरे हो जाते हैं। जो सचमुच में नीति और धर्म के पालक हैं, वे ऐसी परीक्षा को भगवान् का वरदान मानते हैं। अस्थिर चित्त वाले व्यक्ति ही उसे बाधा और बिपत्ति समझते हैं।

---

ज्ञान का वास्तविक अर्थ आत्मज्ञान है। जिस ज्ञान से मनुष्य स्वयं अपने आपको जान ले, वही सच्चा ज्ञान है। मुख्य देवता या ईश्वर को जानना, सत्य का स्वरूप पहचानना और नित्य तथा अनित्य का विचार करना ही ज्ञान है।

— 'समर्थ स्वामी' श्री रामदास

# विवेकानन्द आश्रम

## एक संक्षिप्त विवरण

भगवान् श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में अपने कमरे में सहास्यवदन बैठे हुए हैं। भक्तों से कमरा खचाखच भरा है। तीनों ओर के बरामदों में भी भक्तों की भीड़ लगी है। आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्वविख्यात होनेवाले नरेन्द्रनाथ भी अपने अन्य समवयस्क गुरुभाइयों के साथ वहाँ उपस्थित हैं। लीलामय श्रीरामकृष्ण की अमृतवाणी का पान कर भक्तों के हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्द से परिपूर्ण हुए जा रहे हैं। वैष्णव धर्म का प्रसंग उठता है। वैष्णवधर्म के तीन स्तम्भ हैं:—( १ ) नाम में रुचि, ( २ ) वैष्णवों की पूजा और ( ३ ) जीवों पर दया। प्रथम दो तत्त्वों की चर्चा कर जब श्रीरामकृष्ण तीसरे तत्त्व की व्याख्या करने को प्रस्तुत होते हैं, तो 'जीवों पर दया' कहते हुए वे समाधिमग्न हो जाते हैं। कुछ समय बाद जब वे समाधि से उतरते हैं, वे जगन्माता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, "छिः छिः, दया! अरे, मैं तो तुच्छ जीव, मैं भला किस पर दया करूँगा! मेरी क्या हस्ती कि किसी पर दया करूँ! माता, मैं भला दया करनेवाला कौन होता हूँ? दया नहीं, सेवा। शिव-भाव से जीवों की सेवा!"

श्रीरामकृष्ण की इस मन्त्रतुल्य वाणी को सुनते तो सभी हैं, पर उसका गंभीर तात्पर्य केवल नरेन्द्रनाथ ही समझते हैं। वे अपने गुरुभाइयों को लेकर कमरे से बाहर निकल आते

हैं और कहते हैं, "कैसा महान् आश्चर्य है ! आज गुरुदेव ने कैसे अपूर्व सत्य का उद्घाटन किया है ! अहा, सेवातत्त्व की आज उन्होंने कैसी अभूतपूर्व व्याख्या की है !" जब नरेन्द्र देखते हैं कि उनके गुरुभ्रातागण अब भी उनके मन्तव्य की धारणा नहीं कर पा रहे हैं, तो वे समझाते हुए कहते हैं, "देखो भाइयो, आज गुरुदेव ने दया और सेवा के भेद को स्पष्ट कर दिया है । दया कहने से मन में अहंकार को प्रश्रय मिलता है । जब मैं कहता हूँ कि मुझे अमुक पर दया करनी चाहिए, तो मैं अपने को कुछ ऊँचे स्थान पर रख लेता हूँ और उस व्यक्ति को निम्न स्थान पर, और इस प्रकार दया की क्रिया सम्भव होती है । इससे मनुष्य का अहंकार बढ़ता है और उसकी भेदभावना दूर नहीं हो पाती । पर यदि वह उस व्यक्ति को शिव का — नारायण का — रूप समझकर उसकी सेवा करे, तो इससे उसके हृदय का मल धीरे-धीरे धुल जाता है और उसके शुद्ध चित्त में आत्मज्योति प्रकाशित हो जाती है । .... यदि भगवान् ने मुझे अवसर दिया, तो मैं श्रीगुरुदेव द्वारा आज उच्चारित इस महान् मन्त्र का प्रचार संसार के कोने कोने तक करूँगा ।"

नरेन्द्रनाथ को भगवान् वह सुअवसर देते भी हैं, जब वे स्वामी विवेकानन्द के रूप में अपने गुरुदेव के इस मन्त्र का प्रचार संसार के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक कर देते हैं । तभी तो वे श्वेताश्वतर ऋषि की तरह इस लोक के निवासियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, "हे अमृतपुत्रो, उठो । अपनी अज्ञान की कालिमा को पोंछ डालो । तुम यदि

भगवान् के दर्शन करना चाहते हो, तो अन्यत्र और कहाँ भटकते फिरते हो ? नारायण तो तुम्हारे सामने ही हैं— तुम्हारे चारों ओर हैं— दरिद्र के रूप में, रोगी के रूप में, कोढ़ी के रूप में, भिखारी के रूप में, लूले-लँगड़े के रूप में। शिव के इन जीते-जागते रूपों को छोड़कर तुम शिव को खोजने और कहाँ जाते हो, बन्धु ! इन्हीं की सेवा करो— नारायण के इन नाना रूपों की उपासना करो। बस, यही धर्म है।"

यही श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा का सार है। अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण की इसी शिक्षा के आधार पर स्वामी विवेकानन्द ने "रामकृष्ण मिशन" की स्थापना की है, जिसके माध्यम से आज हमारे देश की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के महान् प्रयत्न हो रहे हैं। इस मिशन के द्वारा विश्व के, और विशेषकर भारत के, नाना स्थानों में सांस्कृतिक उत्थान के लिए बहुमुखी प्रयत्न हो रहे हैं। उसके द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में विद्यालयों, महाविद्यालयों, औद्योगिक और तांत्रिक प्रशिक्षण केन्द्रों तथा यांत्रिक विद्यालयों के माध्यम से एक ओर जिस प्रकार देश की शिक्षा की समस्या को अपनी सामर्थ्य के अनुसार दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है, उसी प्रकार दूसरी ओर धर्मार्थ औषधालयों और चिकित्सालयों के संचालन द्वारा आरोग्य के क्षेत्र में बड़े बड़े कार्य किये जा रहे हैं। निर्धन विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क छात्रावासों तथा अनाथालयों का संचालन भी इस मिशन के द्वारा किया जा रहा है।

"रामकृष्ण मिशन" के इन आदर्शों एवं कार्यों से अनुप्राणित होकर हम लोग रायपुर में भी इन आदर्शों के अनुसार कार्य करने के लिए असर हुए हैं। इस हेतु क्षेत्र के गण्यमान्य नागरिकों की एक समिति बनाकर उसका यथाविधि पंजीयन भी ( रजिस्ट्रेशन नं० ४५।१६५७-५८ ) "श्रीरामकृष्ण सेवा समिति" के नाम से कर लिया गया है। आश्रम का नाम "विवेकानन्द आश्रम" रखा गया है, क्योंकि यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द बचपन में १८८७ ई. से लेकर १८८६ ई० तक रायपुर में रह चुके हैं। यह रायपुर के लिए विशेष सौभाग्य की बात है। जनवरी १६६३ से लेकर जनवरी १६६४ तक स्वामीजी की शतवार्षिक जयन्ती संसार भर में मनायी गयी। रायपुर में भी जिस विराट शताब्दि-उत्सव का आयोजन किया गया था, उससे 'विवेक-ज्योति' के पाठक परिचित हैं।

पहले पहल श्रीरामकृष्ण सेवा समिति का कार्यालय बूढ़ापारा स्थित एक किराये के मकान में रहा। प्रान्तीय शासन ने समिति के सेवा-कार्यों की उपयोगिता देखते हुए उसको लगभग २॥ एकड़ भूमि का बहुमूल्य टुकड़ा दान स्वरुप प्रदान किया। इस भूमि पर छोटा सा कुटीर बनाकर जून १६६२ को समिति का कार्यालय अपनी इस स्वयं की जमीन पर ले आया गया। तब से अब तक इन दो वर्षों की अल्प अवधि में आसपास के उदारचेता व्यक्तियों से जा सक्रिय सहयोग और उदार आर्थिक सहायता हमें प्राप्त हुई है, आज का यह सुविस्तृत आश्रम उसी का परिणाम है।

श्रीरामकृष्ण सेवा समिति के माध्यम से जिन कार्यों की परिचालना की जा रही है, वे निम्नलिखित हैं :—

( १ ) विवेकानन्द विद्यार्थी भवन—यह एक छात्रावास है जिसमें ५० छात्रों के रहने की व्यवस्था है। ये छात्र रायपुर के विभिन्न विद्यालयों और महाविद्यालयों में पढ़ते हैं। छात्रों के चरित्र-गठन एवं आत्मिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। यहाँ पर विद्यार्थियों के बहुमुखी विकास के लिए वादविवाद, परिसंवाद और गोष्ठियाँ आदि आयोजित की जाती हैं।

( २ ) विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय—यहाँ पर धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र इत्यादि विषयों पर लगभग ५'५०० चुने हुए ग्रन्थों का संग्रह किया है। यह ग्रन्थालय सर्वसाधारण के लिए खुला है। इसके निम्नलिखित तीन विशेष विभाग हैं :—

( अ ) पाठ्यपुस्तक विभाग—इसके अन्तर्गत विज्ञान और अभियांत्रिक बिषयों ( Science & Engineering ) की पाठ्यपुस्तकें ( Text Books ) संगृहीत हैं जिनका उपयोग ग्रन्थालय में ही बैठकर किया जा सकता है।

( ब ) शिशु विभाग—इसके अन्तर्गत बाल साहित्य का संग्रह किया गया है, जो शिशुओं के लिए आकर्षण तो है ही, साथ ही लाभदायक भी है।

( स ) निःशुल्क वाचनालय—यहाँ पर १२ दैनिक और ६१ नियतकालिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं।

( ३ ) विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय — यह दातव्य होमियोपैथिक चिकित्सालय १५ अगस्त १९६३ से प्रारम्भ किया गया है। २१ मई १९६४ तक ९३४४ रोगी इस औषधालय से लाभ उठा चुके हैं। इनमें २२८७ रोगी नये हैं और ७०५७ पुराने।

( ४ ) विवेकानन्द अध्ययन केन्द्र—इसके अन्तर्गत विविध सांस्कृतिक अनुष्ठानों का समायोजन किया जाता है। जुलाई १९६४ से इस केन्द्र के द्वारा उच्च स्तर के वाद-विवाद और परिसंवाद नियमित रूप से आयोजित किये जायेंगे। स्वामी आत्मानन्द के निर्देशन में आध्यात्मिक गोष्ठियाँ भी इस केन्द्र का एक विशेष आकर्षण होंगी।

( ५ ) पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र — इसके अन्तर्गत श्रीरामकृष्ण सेवा समिति के ही तत्त्वावधान में केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन की योजनानुसार ग्राम-पंचायतों के विभिन्न अधिकारियों को पंचायती राज की शिक्षा दी जाती है, जिससे वे लोकतांत्रिक शासनपद्धति की मूल बातों को समझ सकें और अपने अधिकारों को समझकर, उनका समुचित उपयोग कर वे गाँवों का सर्वांगीण विकास कर सकें।

( ६ ) विवेकानन्द शताब्दी स्मारक सभाभवन — यह भवन अभी ही बनकर तैयार हुआ है। आगामी जुलाई मास (१९६४) से यहाँ पर नियमित रूप से शास्त्रों पर प्रवचन इत्यादि प्रारम्भ कर दिये जायेंगे। स्वामी आत्मानन्द "ईशावास्योपनिषद्" को लेकर इस व्याख्यान माला का

श्रीगणेश करेंगे। निश्चित तिथि की सूचना बाद में प्रसारित की जायगी।

(७) प्रकाशन विभाग—राष्ट्रभाषा हिन्दी में भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी के युगानुकूल उपदेशों को सर्व सुलभ बनाने के उद्देश्य से इस प्रकाशन विभाग की स्थापना की गयी है। विवेकानन्दजी की शत वार्षिक जयन्ती के अवसर पर १७ जनवरी १९६३ को रामकृष्ण-विवेकानंद-भावधारा से अनुप्राणित "विवेक-ज्योति" का प्रकाशन इसी प्रयास का प्रथम चरण है।

(८) विवेकानन्द आश्रम डाकघर — आश्रम के बहुमुखी कार्यों का विस्तार देखते हुए केन्द्रीय शासन द्वारा विवेकानन्द-जन्म-शताब्दी के उपलक्ष में १७ जनवरी १९६३ को आश्रम के अहाते में 'विवेकानन्द आश्रम' के नाम से एक डाकघर की स्थापना की गयी है। इस डाकघर के खुल जाने से न केवल आश्रम के कार्यों में सुविधा हुई है, बल्कि संलग्न क्षेत्रों के निवासी भी इससे लाभान्वित हो रहे हैं।

## विस्थापित सहायता कार्य

यह तो विदित ही है कि पूर्वी पाकिस्तान से आये हुए विस्थापितों की एक बड़ी संख्या रायपुर के आसपास माना, कुरुद और नवागाँव कैम्पों में अस्थायी रूप से बसाई गई है। बेघरबार, असहाय, बर्बर पाक-अत्याचार से पीड़ित इन विस्थापितों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। इनकी सहायता के हेतु रायपुर नगर में स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में

एक सर्वदलीय नागरिक विस्थापित सहायता समिति की स्थापना हुई है। मई के अन्त तक इस समिति के द्वारा लगभग ४००००) चालीस हजार रुपयों की लागत के विभिन्न दैनन्दिन उपयोग के सामान विस्थापितों के बीच वितरित किये जा चुके हैं। सेवा-कार्य जारी है।

रामकृष्ण मिशन ने यहाँ भी सेवा की अपनी अनुपम परम्परा कायम रखी है। मिशन के द्वारा कुरुद कैम्प में एक सेवा-केन्द्र खोला गया है, जहाँ मिशन के संन्यासिगण बच्चों और रोगियों को नित्य प्रति दूध, बार्ली, मल्टीविटामिन गोलियाँ और मल्टीपरपज़ फुड वितरित कर रहे हैं। इसके साथ, नये और पुराने वस्त्र तथा अन्य जरूरत की चीजें भी बाँटी जा रही हैं। प्रत्येक जच्चा को एक नयी साड़ी, एक पौंड हार्लिक्स तथा एक महीने के लिए मल्टीविटामिन गोलियाँ और मल्टीपरपज़ फुड दिया जा रहा है।

मिशन के इस सेवा-केन्द्र को स्थानीय विस्थापित सहायता समिति द्वारा पूर्ण सहयोग दिया जा रहा है।

इस पारोपकारिक कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता स्वामी आत्मानन्द, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के द्वारा साभार स्वीकार की जायगी।

———

श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।